सम्मति

श्रीस्वामी ब्रह्ममुनि जी सचमुच ब्रह्ममुनि ज्ञान के मनन कर्त्ता हैं। वेद और आर्ष ग्रन्थों के स्वाध्याय का स्वाद वे अकेले नहीं लेते, प्रत्युत दूसरों को भी उसमें सम्मिलित करते हैं। इससे पूर्व स्वामी जी महाराज तेंतीस ग्रन्थों द्वारा अपने स्वाधाय का रसास्वादन जनता को करा चुके हैं। यह चौंतीसवां ग्रन्थ योगविषयक है। स्वामी जी स्वयं एक अभ्यासी विद्वान् हैं। केवल अभ्यासी ही नहीं, और केवल विद्वान् ही नहीं, प्रत्युत विद्वान् अभ्यासी हैं। इससे इनके प्रस्तुत ग्रन्थ का महत्त्व और उपयोग समझा जा सकता है। स्वामी जी ने इस ग्रन्थ में महर्षि पतञ्जलि जी के योग सूत्रों का अर्थ और उनकी व्याख्या के साथ, सूत्रों पर सर्वसम्मत प्रामाणिक व्यासकृतभाष्य का भी भाषानुवाद दे दिया है। इससे पूर्व यद्यपि व्यासभाष्य का एकाध भाषानुवाद प्रकाशित हो चुका है, परन्तु उसमें सूत्रव्याख्या की उपेक्षा की गई है। स्वामी जी की सूत्रव्याख्या भाष्यार्थ समझने में अच्छी सहायता देती है। यह अनुवाद की एक विशिष्ट विशेषता है। भाष्य का अनुवाद भी कई विशेषताओं से युक्त है, जो पाठकों को स्वयं प्रतीत होंगी। ऐसे उत्तम ग्रन्थ प्रस्तुत करने के लिये मुनि जी को धन्यवाद।

श्रावणी २००५ वि०

स्वामी वेदानन्दतीर्थ
अध्यक्ष—सार्वदेशिक दयानन्द भिक्षुमण्डल।

प्राक्कथन

योग के नाम से अनेक प्रणालियां और पद्धतियां प्रचलित हैं जिन में कुछ पाश्चात्य और कुछ भारतीय हैं। पाश्चात्य पद्धतियां दृष्टिबन्ध (Sightism), अन्तरावेश (Spiritualism) सम्मोहन (Mesmerism), संवशीकरण (Hypnotism) हैं। भारतीय पद्धतियां हैं भक्तियोग, शक्तियोग, हठयोग, और पातञ्जल योग। दृष्टिबन्ध (Sightism) आदि पाश्चात्य पद्धतियां तो न योग हैं और न योग की शाखाएं, क्योंकि योग है मन कि[1] शान्त स्थिति की वस्तु और ये हैं मन की भ्रान्तस्थिति के प्रयोग। पात्र का मन किसी भी क्रिया या रीति से भ्रान्त कर देने पर उक्त प्रयोग होते हैं* साम्प्रदायिक जन अपने इष्ट देव की भक्ति करने को भक्तियोग कहते हैं। शक्ति, दुर्गा, काली आदि उग्रस्वभाव वाले देवता का आवेश अपने अन्दर करने को तान्त्रिक जन शक्तियोग कहते हैं। हठ से बलात् मन को मारने के लिये नाडी आदि के अभ्यास का नाम हठयोग है। पतञ्जलि ऋषि के योग-दर्शन में प्रतिपादित योग पातञ्जल योग कहा जाता है।

---

* इस का उदाहरण हमारे 'योगमार्ग' पुस्तक में देखें।

कुछ लोग मन को मूढ बनाने का नाम योग बतलाते हैं अतएव अनेक साधु सुल्फा गांजा चरस पी नशे में रहने को साधुत्व और योग की स्थिति समझते हैं। कई एक किन्हीं क्रियाओं से मन को मूर्च्छित करना योग या समाधि मानते हैं। हमें एक प्रतिष्ठित महानुभाव ने बतलाया कि "मुझे एक साधु ने तीन दिन उपवास कराया पुनः चौथे दिन एनिमा दिया—शरीर में बाहिर से कुछ आया नहीं प्रत्युत अन्दर से एनिमा द्वारा बाहिर निकाल दिया अब शरीर रिक्त (खाली) होगया पुनः अपने सामने बिठाकर अपनी ओर निरन्तर देखने को कहा देखते देखते मैं अचेत होगया पश्चात् जब सचेत हुआ तो साधु जी ने कहा कि तुम्हारी समाधि लग गई थी" यह थी मूर्च्छित स्थिति, योग नहीं कारण कि थकान के द्वारा मूर्च्छा को उभराया है, जैसे कोई मनुष्य तीन दिन भोजन न खाकर शिर पर बोझा उठाकर कहीं दूर ले चले तो निर्बलता और थकान के कारण अवश्य मूर्च्छित होकर गिर पड़ेगा। तीन दिन भूखे रहने से निर्बलता तो आ गई ही थी फिर एनिमा से और भी निर्बलता बढ़ गई पुनः आंखों से निरन्तर देखने का परिश्रम दिया गया तो मूर्च्छित होना ही था। अनेक लोग इस मूर्च्छित होने के अभ्यास को बढ़ाते रहते हैं। परन्तु वह मूर्च्छित होना योग नहीं कारण कि पातञ्जल योग दर्शन के व्यास भाष्य में लिखा है मन की पांच अवस्थाएं हैं "क्षिप्तं मूढं विक्षिप्तमेकाग्रं निरुद्धमिति चित्तभूमयः (योगदर्शन १।१

व्यास:) क्षिप्त-चंचल, मूढ-मूर्च्छित, विक्षिप्त-बाधित, एकाग्र
एकवृत्तिता, निरुद्ध-सर्वनिरोध' इनमें केवल एकाग्र और
निरोध को योग माना है अन्य को नहीं पुनः मूढ़-मूर्च्छित
अवस्था योग नहीं है यह स्पष्ट है। अनेक मायिक साधु योग
के नाम पर माया करते हैं वे किसी नगर में पहुँचते हैं तो
वहां के धनिक या सत्ताधारी राजा महाराजा के पास जाकर
कहते हैं कि "हमारी समाधि लगवादो हम गढ़े में अपने
को बन्द करके बारह या अठारह घण्टे की समाधि लगाते
हैं।" समाधि शान्ति की वस्तु है तो कहीं किसी भी
एकान्त जङ्गल में जाकर लगा लिया जावे जो समाधि सेठों
और राजाओं के अधीन है उसे कब तक लगाकर परमार्थ सिद्ध
किया जासकता है ऐसे एक साधु श्रीमान् महाराजा शाहपुरा
के पास भी गए थे और उक्त १० घण्टे की समाधि लगाने
की बात की श्रीमान् शाहपुरा महाराजा ने साधु के कथनानुसार दो
गड्ढे तैयार करा उनमें दो बकरे बन्द किए एक १२ घण्टे के
और दूसरे को २४ घण्टे पीछे खोला तो दोनों बकरे निकलते
ही घास चरने लगे, यह है साधु जी की (मायावाली) समाधि
जिसे बकरे भी लगा सकते हैं उक्त घटना हमें स्वयं श्रीमान् शाहपुरा
महाराजा ने बतलाई, दूसरी ऐसी ही बात हमें श्रीमान् महाराजा
अलवर ने भी बतलाई कि उनके पास एक साधु ने ऐसे ही
गढे में बन्द होकर समाधि लगाने को कहा तो श्रीमान् अलवर
महाराजा ने कहा कि हम उस गढे में तीन चौथाई जल

भरेंगे एक चौथाई खाली रखेंगे फिर समाधि लगाओ तो साधु जी नहीं माना इत्यादि। कुछ लोग मूर्च्छित रहने के अभ्यास को बढ़ा लेते हैं कई दिन तक मूर्च्छित रहने का अभ्यास कर लेते हैं उस अवस्था में शरीर की धातुएं उसका आहार बनती रहतीं हैं और तब तक शरीर जीवित रहता है जब तक शारीरिक धातुओं का आहार मिलता रहता है जैसे उपवास में मनुष्य बिना बाहिरी आहार के कई दिनों तक भीतरी धातुओं के आहार पर जीवित रहता है। अतः मूर्च्छित होना समाधि नहीं समाधि तो निरन्तर एकाग्रता और निरोध का नाम है। हठयोग में केवल अभ्यास वह भी विशेषतः शारीरिक नाडी आदि सम्बन्धी होता है वैराग्य को स्थान नहीं परन्तु पातञ्जल योग में वैराग्य और उच्च अभ्यास का सम्पादन करना होता है ॐ

पातञ्जल योग में अभ्यास दो प्रकार के होते हैं, एक स्थानिक दूसरे भौमिक। स्थानिक अभ्यास उसे कहते हैं जिस में किसी भी एक स्थान पर मन को स्थिर करना-मन में स्थिरता की शक्ति लाना जहां भी मन लग सके। इस प्रकार स्थानिक अभ्यास की आवश्यकता इतनी ही है कि मन लगभग आध घण्टे तक एक स्थान पर स्थिर रहने लगे, पुनः उसे भौमिक अभ्यास में डालना होता है कहा भी है "*तस्य भूमिषु विनि-योगः*" (   ) स्थानिक अभ्यास का क्षेत्र

ॐ "अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः" (योगदर्शन)

सूक्ष्म से सूक्ष्म परमाणु पर्यन्त और महान् से महान् आकाश पर्यन्त है "परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः" ( ) समस्त त्रिगुणी वस्तु जड़ हैं, मन भी त्रिगुणी है जड़ है अतः उसकी गति या पहुँच भी त्रिगुणी जड़ वस्तु तक ही है+। अभ्यास की इयत्ता भी जड़ वस्तु तक है पुनः वैराग्य ही परम उपाय है जो चेतन एवं अमर ब्रह्मदेव का साक्षात् कराता है। भौमिक अभ्यास वह है जिसमें भूमियां चलती हैं एक भूमि से दूसरी भूमि दूसरी से तीसरी आदि क्रम से अभ्यास बढ़ता जाता है। आगे कौन सी भूमि है यह स्वयं अभ्यासी समझता

+ मन त्रिगुण—

"चित्तं हि प्रख्याप्रवृत्तिस्थितिशीलत्वात् त्रिगुणम्" (योगदर्शन १।१ व्यासः)

मन और इन्द्रियां त्रिगुणी—

"प्रकाशक्रियास्थितिशीला गुणा येषामिन्द्रियाणि साहङ्काराणि परिणामः" (योग ३।४७ व्यासः)

इन्द्रियां और शब्द आदि विषय त्रिगुणी—

प्रख्याक्रियास्थितिशीलानां गुणानां ग्रहणात्मकानां करणभावेनैकः परिणामः श्रोत्रमिन्द्रियं ग्राह्यात्मकानां शब्दतन्मात्रभावेनैकः परिणामः शब्दो विषय इति (योगः ४।१४ व्यासः)

इन्द्रियां और पृथिवी आदि पञ्चभूत त्रिगुणी—

"प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम्" (योग १।१८)

जाता है, कहा भी है, "योगस्य योग एवोपाध्यायः" (   )
भौमिक अभ्यास के तीन मार्ग हैं जो कि ग्राह्यमार्ग, ग्रहणमार्ग, ग्रहीतृमार्ग के नाम से कहे जाते हैं। जिनमें-

ग्राह्यमार्ग—गन्धतन्मात्रा से लेकर प्रकृति तक समाधिलाभ करना।

ग्रहणमार्ग—नासिका आदि इन्द्रियों एवं अन्तकरण मनः, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार (अस्मिता) तक समाधिलाभ होना।

ग्रहीतृमार्ग—ओङ्कारोपासना में जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय अवस्थाओं में चलता हुआ ब्रह्मसमाधि को प्राप्त करना।

पातञ्जल योग ही वैदिक योग है कारण कि वैदिक धर्म में ईश्वर, जीव और प्रकृति ये तीन पदार्थ अनादि हैं। ग्राह्यमार्ग द्वारा प्रकृति का ज्ञान, ग्रहणमार्ग द्वारा 'अहम्-अस्मि = मैं हूँ' अपने अस्तित्व का बोध होता है और ग्रहीतृ-मार्ग में ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। ग्राह्य ग्रहण ग्रहीतृ-रूप मार्ग ही ऋषिमुनियों का मार्ग है यही उपनिषदों का मार्ग है इसे राजयोग मार्ग या राजमार्ग योग कहते हैं इस में भूलने भटकने का अवसर नहीं अतः यही उपादेय है।

इस शास्त्र के चार भाग चार पादों के नाम से हैं जिन में प्रथम समाधिपाद है दूसरा साधन पाद तीसरा विभूतिपाद और चौथा कैवल्यपाद है। समाधिपाद का प्रयोजन है योग के अन्तिम अङ्ग समाधि के भेदों तथा योग के स्वरूप और

सिद्धान्तों का प्रकाश करना और पूर्वजन्म से विशुद्ध एवं
स्थिरता के संस्कारों को प्राप्त हुए जन को योगपथ पर चल पड़ने
का उपाय दर्शाना। दूसरे साधनपाद में योग के साधनों का
प्रतिपादन और अस्थिरचित्त को समाधि प्राप्ति के योग्य बनाना।
तीसरे विभूतिपाद में योगी को स्वतः प्राप्त होने वाली एवं
साधने योग्य विभूतियों सिद्धियों का वर्णन तथा योग में रुचि
दिलाना। चौथे कैवल्यपाद में विभूतियों से भी ऊपर कैवल्य
सुख परमात्मदर्शन, प्राकृतिक एवं चित्त के सम्पर्क से विमुक्त
केवलता को दर्शाना और प्राप्त कराना।

इस भाष्य में पतञ्जलि ऋषि के सूत्रों एवं व्यास ऋषि
के भाष्य का भाषानुवाद किया गया है। योग के सम्बन्ध
में केवल ऋषियों के वचनों पर ही लेख होने से इसका नाम
'आर्ष योगदीपिका' रखा है। यहां पतञ्जलि के सूत्रों का प्रथम
अर्थ और किसी किसी क्लिष्ट सूत्र पर विवरण दिया गया है
पुनः व्यास भाष्य का अनुवाद किया गया है, क्वचित् क्वचित्
उस पर स्पष्टीकरण भी दिया गया है। आशा है स्वाध्यायी
और योगविषयक वर्णन के जिज्ञासु जन इसका स्वागत
करेंगे। इति

ब्रह्ममुनि परिव्राजक

ओ३म्

आर्षयोग-प्रदीपिका

—×—

प्रथम पाद

अथ योगानुशासनम् ॥१॥

सूत्रार्थ—(अथ) अब (योगानुशासनम्) योग का अनुशासन—'अनु-शासन' अनुकूल शासन एवं अनुरूप शासन अर्थात् वैदिक आदेशों प्राचीन योगाचार्य-महर्षियों के प्रवचनों आचारों अनुभूतपरम्पराओं के अनुकूल—अनुसार एवं योग-विद्या के अनुरूप-लक्षण भेद उपाय फल की यथार्थता से युक्त शासन-विशद शिक्षण-प्रवचन-कथन—वर्णन जिसमें हो ऐसा शास्त्र प्रस्तुत है—प्रस्तुत किया जाता है।

भाष्यानुवाद—(अथेत्ययमधिकारार्थः) सूत्र में 'अथ' शब्द अधिकारार्थ—प्रस्तावार्थ—उपस्थितकरणार्थ है (योगानुशासनं शास्त्रमधिकृतं वेदितव्यम्) योगानुशासन-योग की शिक्षा देनेवाला शास्त्र अधिकृत अर्थात् प्रस्तुत-उपस्थित समझना चाहिये (योगः समाधिः) यहां सूत्र में 'योग' का तात्पर्य 'समाधि' अर्थात् समाधान-अव्युत्थान-व्युत्थानाभाव-उठी हुई

वृत्तियों का निवृत्त स्वरूप है "युज समाधौ"+ (दिवादि) (स च सार्वभौमश्चित्तस्य धर्मः) और वह समाधिरूप योग सर्वभूमि-किसी भी भूमि में सिद्ध हुआ चित्तधर्म मन का गुण है। ' ये चित्त भूमियां-(क्षिप्तं मूढं विक्षिप्तमेकाग्रं निरुद्धमिति चित्त-भूमयः) क्षिप्त-चञ्चल, मूढ-मोहमयता-मूर्च्छितरूप, विक्षिप्त-बाधित, एकाग्र-एकवृत्तिता या एक स्थान में निरुद्ध-सर्वथा निरोध ये पांच चित्तभूमियां-चित्त की अवस्थाएं (Stages) हैं (तत्र विक्षिप्ते चेतसि विक्षेपोपसर्जनीभूतः समाधि र्न योग-पक्षे वर्तते) उन पांचोंमें 'क्षिप्त और मूढ में तो समाधि होती ही नहीं विक्षिप्त भूमि में कभी समाधि हो जाती है पर' विक्षिप्त चित्त में विक्षेपों के कारण गौण हुई समाधि योगपक्ष में नहीं मानी जाती (यस्त्वेकाग्रे चेतसि सद्भूतमर्थं प्रद्योतयति, क्षिणोति च क्लेशान्, कर्मबन्धनानि श्लथयति, निरोधमभिमुखं करोति स सम्प्रज्ञातो योग इत्याख्यायते) जो तो एकाग्र चित्त में-एकाग्र भूमि में समाधि होती है वह सद्भूत वस्तु—जैसी है वैसी वस्तु को प्रदर्शित कर देती है, तथा आगे कहे जाने वाले अविद्या आदि पांच क्लेशों को क्षीण करती है, कर्म के बन्धनों को ढीला करती है, निरोधरूप अन्तिम भूमि को लक्षित करती है—उस की ओर प्रवृत्ति या झुकाव कर देती है वह 'एकाग्र समाधि' सम्प्रज्ञात योग नामसे कहा जाता है (स च वितर्कानु-गतो विचारानुगत आनन्दानुगतोऽस्मितानुगत इत्युपरिष्टान्निवेद-

---

+ 'युजिर योगे' (रुधादि०) से नहीं

यिष्यामः) और वह वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत, अस्मितानुगत भेद से चार प्रकार का है यह हम आगे चलकर कहेंगे (सर्ववृत्तिनिरोधे त्वसम्प्रज्ञातः समाधिः) समस्त वृत्तियोंके निरोध में—एकाग्रभूमि से आगे होने वाली निरोध रूप अन्तिम भूमि में तो असम्प्रज्ञात समाधि होती है ॥१॥

अवतरण—(तस्य लक्षणाभिधित्सयेदं सूत्रं प्रववृते) "जिस योग का शिक्षणशास्त्र यह आरम्भ किया है' उसका लक्षण उपस्थित करने की इच्छा से यह निम्न सूत्र प्रवृत्त हुआ है—

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥२॥

सूत्रार्थ—(चित्तवृत्तिनिरोधः) चित्त अर्थात् मन की वृत्तियों—धाराओं—तरंगों (waves) का निरोध अर्थात् एकत्रीकरण—एक ओर लगाना एवं सर्वथा निगूढ़—अन्तर्लीन-विलुप्त करदेना योग है—योग कहलाता है।

विशेष—बाहिरी संसार में जैसे विद्युत् (बिजुली) है एवं भीतरी संसार अर्थात् शरीर में मन वस्तु विद्युत् का प्रतिनिधि या विद्युत्रूप है। विद्युत् की धाराओं तरंगों (waves) के समान मन की भी धाराएं तरङ्गें (waves) होती हैं जिन्हें सूत्र में वृत्तियों के नाम से कहा है जिन के द्वारा मन अपने विषयों पर अधिकार करता है या उन्हें सम्मुख लाता है। उन धाराओं का निरोध अर्थात् एकत्र करने से मनोविकास

तथा मनोविज्ञान का क्षेत्र सिद्ध होता है एवं उन्हें अन्तर्लीन या विलुप्त करने से आत्मविकास तथा आत्मविज्ञान की भूमि प्राप्त होती है।

भाष्यानु०—(सर्वशब्दाग्रहणात् सम्प्रज्ञातोऽपि योग इत्याख्यायते) 'सूत्र में' सर्वशब्द के अग्रहण अर्थात् 'सर्व वृत्तिनिरोध' न कहकर 'वृत्तिनिरोध' मात्र कहने से सम्प्रज्ञात अर्थात् व्युत्थान से ऊपर की स्थिति-एकवृत्तिता-एकाग्रता एकाग्र-समाधि भी योग है यह दर्शाया जाता है (चित्तं हि प्रख्याप्रवृत्तिस्थितिशीलत्वात त्रिगुणम्) वस्तुतः चित्त 'प्रख्या-प्रवृत्ति-स्थिति अर्थात् 'कान्ति—प्रगति—निवृत्ति † स्वभाव वाला अर्थात् 'सत्व-रजः-तमः' गुणों का बीजभाव-वाला होने से त्रिगुणी है तात्पर्य यह है कि मन वस्तु सत्त्वगुण-रजोगुण—तमोगुण का आधार या अधिष्ठान है ❀ 'सत्वगुण को शुक्ल, रजोगुण को रक्त, तमोगुण को कृष्ण रंगों से तुलना दे सकते हैं' (प्रख्यारूपं हि चित्तसत्त्वं रजस्तमोभ्यां संसृष्टमैश्वर्यविषयप्रियं भवति) चित्त वस्तु सत्वरूप ही होता हुआ रजोगुण और तमोगुण से मिला

---

† "प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम्" (योग० २।१८)

❀ "प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम्" (योग० २ । १८) 'प्रकाशशीलं सत्वं क्रियाशीलं रजः स्थितिशीलं तमः' (व्यासभाष्यम्)

हुआ ऐश्वर्यविषय की ओर झुका होता है 'इस स्थिति में तीनों गुण चित्त में वर्तमान हैं इसे समानरूप से त्रिगुणी कहा जाता है जिस प्रकार वस्त्र शुक्लस्वरूप होता हुआ और कृष्ण रंग से रंगा हुआ विचित्र एवं अद्भुत दिखलाई देने लगता है' (तदेव तमसाऽनुविद्धमधर्माज्ञानावैराग्यानैश्वर्योपगं भवति) वह ही सत्त्वस्वरूप चित्त तमोगुण से युक्त हुआ अधर्म अज्ञान अवैराग्य अनैश्वर्य को प्राप्त हुआ होता है 'इस स्थिति में सत्त्वगुण और तमोगुण चित्त में वर्तमान हैं इसे तमोगुणी कहा जाता है शुक्ल रूप वस्त्र जैसे कृष्ण रंग में रंगा हुआ होता है' (तदेव प्रक्षीणमोहावरणं सर्वतः प्रद्योतमानमनुविद्धं रजोमात्रया धर्मज्ञान-वैराग्यैश्वर्योपगं भवति) वह ही सत्त्वस्वरूप चित्त तमोगुण के आवरण से रहित हो सब ओर से चमचमाता हुआ रजोगुण से युक्त हो धर्म ज्ञान वैराग्य ऐश्वर्य को प्राप्त होता है 'इस स्थिति में सत्त्वगुण और रजोगुण चित्त में वर्तमान हैं इसे रजोगुणी कहा जाता है जैसे शुक्लरूप वस्त्र रक्त रंग में रंगा हुआ होता है' (तदेव रजोलेशमलापेतं स्वरूपप्रतिष्ठं सत्त्वपुरुषान्यता-ख्यातिमात्रं धर्ममेघध्यानोपगं भवति तत् परं प्रसंख्यानमाचक्षते ध्यायिनः) पुनः वह ही सत्त्वस्वरूप चित्त रजोगुण के सम्पर्क रूप मल से अलग हुआ स्व-रूप में प्रतिष्ठित—निजरूपवाला सत्त्वगुणवाला हो सत्त्व और पुरुष अर्थात् चित्ततत्त्व और चेतनशक्ति की भिन्नता के विवेकज्ञान से युक्त धर्ममेघध्यान-विशुद्ध आत्मधर्म अमृतत्व का मेहन सिञ्चन करने वाली

समाधि को प्राप्त होता है उस इस स्वरूप को पर प्रसंख्यान नाम से अर्थात् उत्कृष्ट ज्ञान-पुरुषज्ञान पुरुषदर्शन का साधन ध्यानी योगी जन कहते हैं ' इस स्थिति में चित्त में सत्त्वगुणमात्र वर्तमान है इसे सत्त्वगुणी कहा जाता है जैसे निजरूप में शुक्लरूप वस्त्र होता है तथा चित्त एक ऐसा दर्पण है जो सत्त्वगुण-रजोगुण तमोगुणरूप शुक्ल रक्त कृष्ण रंगों को धारण किया करता है, जब कृष्ण रंग-कालिमा से लिपा रहता है तब प्रकृति का दर्शन प्राकृतिकता जडता का अनुभव एवं उपयोग अधर्म अज्ञान-अवैराग्य-अनैश्चर्य के रूप में कराता है जब रक्त रंग में रंगा अर्द्ध निर्मल सा होता है तब जीवात्मा का दर्शन अनुभव उपयोग धर्म ज्ञान वैराग्य ऐश्वर्य के रूप में कराता है और जब शुक्ल अर्थात् शुद्ध निजरूप में सर्वथा निर्मल होता है तब परमात्मा-ईश-परमपुरुष का दर्शन—अनुभव—साक्षात् कराता है ' (चितिशक्तिरपरिणामिन्यप्रतिसंक्रमा दर्शितविषया शुद्धा चानन्ता च) चितिशक्ति--चेतनाशक्ति--आत्मशक्ति उक्त गुणों के परिणामों से रहित अर्थात् उन गुणों से रहित अविचल चित्त द्वारा दिखलाए जा चुकते हैं विषय जिसके लिये अर्थात् विषयों से उपरत हो जाने वाली शुद्धा और अप्रतिहता अर्थात् न दबने वाली है (सत्वगुणात्मिका चेयमतो विपरीता विवेकख्या तरिति *) यह सत्त्वगुणरूपा—चित्त के सत्त्वस्वरूप में प्राप्त विवेकदर्शिकास्थिति—सम्प्रज्ञातसमाधिभूमि इस चिति-

* 'इयं सत्त्वगुणात्मिका विवेकख्यातिः अतश्चितिशक्तेर्विपरीता' इत्यर्थः।

शक्ति—चेतनाशक्ति—आत्मशक्ति से भिन्न है (अतस्तस्यां विरक्तं चित्तं तामपि ख्यातिं निरुणद्धि) अतः उसमें विरक्त हुआ—विशेष संलग्न हुआ चित्त उस विवेकख्याति का भी निरोध कर देता है (तदवस्थं संस्कारोपगं भवति) उस अवस्था में वर्तमान चित्त निरोधसंस्कारों को प्राप्त होता है (स निर्बीजः समाधिः) वह निर्बीज नाम की 'बीजभाव से रहित' समाधि होती है (न तत्र किञ्चित्सम्प्रज्ञायत इत्यसम्प्रज्ञातः) इस में कुछ भी ज्ञान का लक्ष्य नहीं रहता है अतएव असम्प्रज्ञात समाधि है (द्विविधः स योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः) इस लिए दो प्रकार का वह चित्तवृत्तिनिरोध 'सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात नाम से' योग हुआ ॥२॥

अत्र—(तदवस्थे चेतसि विषयाभावाद् बुद्धिबोधात्मा पुरुषः किंस्वभाव इति) वृत्तिनिरोधावस्थावाले चित्त में विषयों के अभाव से—अवर्तमान से बुद्धि—विषय बुद्धि—घटपट आदि बुद्धि का बोधात्मा—बोध करता है स्वरूप जिसका—बोद्धा पुरुष किस स्वभाववाला हो जाता है ? 'उत्तर'—

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥३॥

वक्तव्य—यहां षष्ठीविभक्त्यन्त 'द्रष्टुः' पद का 'स्वरूपे' पद के साथ भी सम्बन्ध हो सकता है—'द्रष्टुः स्वरूपे' और 'अवस्थानम्' पद के साथ भी हो सकता है–'द्रष्टुः-अवस्थानम्'। इस लिए सूत्र के दो अन्वय हो जाने से अर्थ भी दो हो सकते हैं. दोनों अन्वय और अर्थ यहां दिए जाते हैं।

प्रथम अन्वय—

तदा द्रष्टुः-अवस्थानं स्व-रूपे 'भवति'।

अर्थ—(तदा) उस समय—चित्तवृत्ति निरोध हो जाने पर (द्रष्टुः) द्रष्टा—दृक्शक्ति—चितिशक्ति—जीवात्मा की (अवस्थानम्) अवस्थिति-विराजमानता (स्व-रूपे) निज रूप में हो जाती है।

आशय—चित्तवृत्ति निरोध हो जाने पर द्रष्टृशक्ति—जीवात्मा की अवस्थिति-विराजमानता निजरूप में होती है अर्थात् न द्रष्टृशक्ति-जीवात्मा का अभाव होता है और न ही चित्त के धर्मों-सत्व रज तम गुणों का अवशेष रहता है किन्तु जीवात्मा गुणातीत विशुद्ध केवल और मुक्त हो जाता है।

द्वितीय अन्वय—

तदा 'जीवात्मनः' द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् 'भवति'।

अर्थ—(तदा) तब—चित्तवृत्तिनिरोध होने पर 'चितिशक्ति=जीवात्मा की' (द्रष्टुः) द्रष्टा—सर्वसाक्षी*सर्वान्तर्यामी परमात्मा के (स्वरूपे) स्वरूप में (अवस्थानम्) अवस्थिति—विराजमानता-सङ्गति हो जाती है।

आशय—चित्तवृत्तिनिरोध हो जाने पर चितिशक्ति—जीवात्मा की अवस्थिति—विराजमानता या सङ्गति सर्वसाक्षी परमात्मा के स्वरूप में हो जाती है अर्थात् उस समय चित्त से सम्बन्ध

*"अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति" (ऋ० १।१६४।२०) परमात्मा न भोगता हुआ साक्षीरूप से रहता है।

छूटा तो प्रकृतिमय बन्धन टूटा, चित्त प्रकृतिरूप है अतः सर्वसाक्षी सर्वान्तर्यामी विभु परमात्मदेव के स्वरूप में विराजमानता या सङ्गति अनिवार्य एवं वाञ्छनीय सिद्ध हो जाती है कारण कि जीवात्मा आलिङ्गनधर्मी है इसे आश्रय या अधिष्ठान चाहिये वह प्रकृति हो या परमात्मा, अतएव वेद में कहा है "*ततः परिष्वजायसी देवता सा मम प्रिया*" (अथर्व० १०।८।२५) अर्थात् परमात्मा और जीवात्मा 'दोनों' में परिष्वङ्गकरनेवाली—आलिङ्गन करने वाली मेरी प्यारी देवता आत्मा है।

भाष्यानु०— (स्वरूपप्रतिष्ठा तदानीं चितिशक्तिर्यथा कैवल्ये) उस समय चितिशक्ति—जीवात्मा निजरूप में प्रतिष्ठित अर्थात् चित्त के सम्पर्क से रहित त्रिगुणातीत आत्मता में वर्तमान हो जाता है जैसे कैवल्य में—मोक्ष में। 'मोक्ष में जीवात्मा का प्राकृतिक बन्धन छूट जाता है और अनन्त परमात्मा के आश्रय में अव्याहत गति से विचरता है' ॥३॥

अव—(व्युत्थानचित्ते तु सति तथाऽपि भवन्ती न तथा, कथं तर्हि ? दर्शितविषयत्वात्—) व्युत्थानचित्त होने पर अर्थात् निरोध या निरोधावस्था से अलग होने पर यद्यपि चितिशक्ति—चेतना निजरूप में होती हुई वैसी 'केवलरूपा' नहीं होती, तो कैसी होती है ? चित्त के द्वारा दिखलाए जा चुके विषयवाली होने से—

वृत्तिसारूप्यमितरत्र ॥४॥

सूत्रार्थ—(इतरत्र) निरोधावस्था से भिन्न अवस्था में

(वृत्तिसारूप्यम्) 'चितिशक्ति—जीवात्मा' की वृत्ति के साथ सादृश्य—एकरूपता रहती है अर्थात् निरोध से भिन्न समय में अभ्यासी की वृत्ति के साथ एकता बनी होती है।

भाष्यानु०—(व्युत्थाने याश्चित्तवृत्तयस्तदविशिष्टवृत्तिः पुरुषः) व्युत्थान में जो चित्तवृत्तियां होती हैं उनके समानधर्म-वाला पुरुष—आत्मा हो जाता है (तथा च सूत्रम्—'एकमेव दर्शनं ख्यातिरेव दर्शनम्' इति) ऐसा ही 'पञ्चशिखाचार्य' का सूत्र प्रमाण है कि दर्शन अर्थात् वृत्तिबोध एक ही होता है 'उस में पुरुष का स्वरूप भिन्न और चित्त का स्वरूप या चित्तवृत्ति-व्यवहार भिन्न नहीं होता' तथा दर्शन एक ही होता है ख्याति अर्थात् बोध—एक वृत्तिबोध ही दर्शन है (चित्तमयस्कान्तमणि-कल्पं सन्निधिमात्रोपकारि दृश्यत्वेन स्वं भवति पुरुषस्य स्वामिनः) चित्त अयस्कान्तमणि—चुम्बक के समान समीप होने मात्र से काम करने वाला दृश्यभाव से स्वामीरूप पुरुष—जीवात्मा का स्व [मिलकियत] हो जाता है (तस्मा-च्चित्तवृत्तिबोधे पुरुषस्यानादिः सम्बन्धो हेतुः) इस से चित्तवृत्तिबोध-चित्तवृत्तियों के अनुभव में पुरुष-जीवात्मा का 'चित्त के साथ' अनादि सम्बन्ध कारण है ॥४॥

अव०—(ताः पुनर्निरोद्धव्या बहुत्वे सति चित्तस्य—) 'वृत्तियों का' बहुत्व—बाहुल्य-आधिक्य होने पर भी वे निरोध करने योग्य चित्त की—

वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः॥५॥

सूत्रार्थ—(वृत्तयः) वृत्तियाँ— 'चित्त की वृत्ति यां' (पञ्च-तय्यः) पांच प्रकार की हैं, तथा (क्लिष्टाक्लिष्टाः) वे क्लिष्ट 'भी होती हैं' और अक्लिष्ट 'भी' होती हैं।

भाष्यानु०— क्लेशहेतुकाः कर्माशयप्रचयक्षेत्रीभूताः क्लिष्टाः') 'आगे कहे जाने वाले अविद्या आदि पांच' क्लेश हेतु जिन के हैं—अविद्या आदि क्लेशों से उत्पन्न होने वाले तथा कर्माशयों कर्मसंस्कारों—कर्मसम्बन्धी वासनाओं के उपजाने में क्षेत्रीभूत हुई—खेत बनी हुई वृत्तियां क्लिष्ट हैं (ख्याति-विषया गुणाधिकारविरोधिन्योऽक्लिष्टाः) ख्याति—सत्वपुरुषान्यताख्याति अर्थात् चित्त और चितिशक्तिरूप जीवात्मा का अलग अलग बोध कराने वाली स्थिति से सम्बन्धित और सत्व रज तम रूप गुणों के अधिकार—कार्य-परिणाम एवं विकार का विरोध करने वाली वृत्तियां अक्लिष्ट हैं 'यह क्लिष्ट और अक्लिष्ट वृत्तियों का सामान्य स्वरूप बतलाया गया है अन्य स्थितियां भी क्लिष्ट अक्लिष्ट की होती हैं वे भी कही जाती हैं—' (क्लिष्टप्रवाहपतिता अप्यक्लिष्टाः) क्लिष्ट वृत्तियों के उद्गमस्थान से गिरी हुई+—क्लिष्टवृत्तिधाराओं के उद्गमस्थान से निकली हुई भी अक्लिष्ट वृत्तियां हुआ करती हैं अर्थात् जिन अविद्या आदि दोष रूप पापिष्ठ कर्मों से

+ 'प्रवहन्ति यस्मात् स प्रवाहः (अकर्तरि च कारके इति अपादाने घञ्) क्लिष्टानां प्रवाहः—क्लिष्टप्रवाहः, क्लिष्टप्रवाहात् पतिताः क्लिष्टप्रवाहपतिताः' इति पञ्चमीसमासः।

क्लिष्ट वृत्तियां पापवृत्तियां निकलती हैं कभी कभी उनके दोष-दर्शन या परिणामरूप आकस्मिक घटना एवं भारी ठोकर से ग्लानि उत्पन्न हो कर अक्लिष्ट वृत्तियां—अक्लिष्ट वृत्तिधाराएं बहने लगती हैं, यद्यपि ये क्लिष्ट वृत्तियों के उद्गमस्थान से निकली हैं परन्तु अपर वैराग्य के कारण ही निकली हैं अतः यह भी अक्लिष्ट वृत्तियों की एक स्थिति है, इसी प्रकार एक और स्थिति भी अक्लिष्ट वृत्तियों की होती है जोकि—(क्लिष्टछिद्रेष्वप्यक्लिष्टा भवन्ति) क्लिष्टवृत्तियों के—छिद्रों—क्लिष्ट वृत्तिधाराओं के क्वचित् क्वचित् मध्य में आजाने वाले क्षुद्र उद्गम द्वारों में को बहती चली जाती हुई भी अक्लिष्ट वृत्तियां—अक्लिष्ट वृत्ति धाराएं भी हुआ करती हैं। 'इस प्रकार तीन स्थिति अक्लिष्ट वृत्तियों की हुईं-एक सर्वथा विशुद्ध दूसरी क्लिष्टवृत्तियों के उद्गम से निक ी हुई तीसरी क्लिष्ट वृत्तियों के क्षुद्र उद्गम द्वारों में को बहती हुई'। अब क्लिष्टवृत्तियों का भी एक अन्य भेद देखिये—(अक्लिष्टछिद्रेषु क्लिष्टा इति) अक्लिष्ट छिद्रों—अक्लिष्टवृत्तिधाराओं के क्वचित् क्वचित् मध्य में आजाने वाले क्षुद्र उद्गमद्वारों में को बहती चली जाती हुईं भी क्लिष्टवृत्तियां—क्लिष्टवृत्तिधाराएं भी हुआ करती हैं। इस प्रकार क्लिष्टवृत्तियों की दो स्थितियां हुईं एक सर्वथा विशुद्ध क्लिष्टवृत्तियां दूसरी अक्लिष्टवृत्तियों के क्षुद्र उद्गमद्वारों में बहती हुईं क्लिष्टवृत्तियां। अक्लिष्टप्रवाहपतित अर्थात् अक्लिष्टवृत्तियों के उद्गम स्थान

से क्लिष्टवृत्तियां नहीं निकला करती हैं कारण कि पाप से
ही ग्लानिरूप वैराग्य [अपर वैराग्य] हुआ करता है पुण्य
से नहीं, अतएव भाष्यकार ने अक्लिष्ट प्रवाहपतित क्लिष्ट
वृत्तियों का होना नहीं बतलाया, (तथाजातीयकाः संस्कारा
वृत्तिभिरेव क्रियन्ते) वैसे ही संस्कार वृत्तियों से किये जाते
हैं (संस्कारैश्च वृत्तय इति) और संस्कारों से वृत्तियां की
जाती हैं (एवं वृत्तिसंस्कारचक्रमनिशमावर्तते) इस प्रकार
वृत्ति-संस्कार रूप चक्र निरन्तर चलता है (तदेवम्भूतं चित्तमव-
सिताधिकारमात्मकल्पेन व्यवतिष्ठते प्रलयं वा गच्छतीति) वह
ऐसा चित्त 'वृत्तिनिरोध हो जाने पर' अवसिताधिकार—समाप्त
होगये 'सत्त्व रज तम' गुणों के अधिकार जिससे ऐसा—सत्त्व
रज तम गुणों के परिणामों से रहित हुआ आत्मा के जैसा निर्दोष
निर्मल हो जाता है या विलीन भाव को प्राप्त हो जाता है ॥५॥

अव०—(ताः क्लिष्टाश्चाक्लिष्टाश्च पञ्चधा वृत्तयः--) वे
क्लिष्ट और अक्लिष्ट पांच प्रकार वाली वृत्तियां—

प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः ॥६॥

सूत्रार्थ—(प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः) प्रमाण—
वस्तु ज्ञान का साधन, विपर्यय—मिथ्याज्ञान या वस्तु की
विपरीत प्रतीति, विकल्प—विशेष कल्पित व्यवहार; निद्रा,
स्मृति पांच वृत्तियां हैं ॥६॥

प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि ॥७॥

सूत्रार्थ—(प्रत्यक्षानुमानागमाः) प्रत्यक्ष, अनुमान और

आगम (प्रमाणानि) प्रमाण हैं ।

विशेष—प्रमाण आदि पांच वृत्तियों में निरोध करने योग्य प्रथम वृत्ति प्रमाण है । यद्यपि न्याय दर्शन में आठ प्रमाण कहे गये हैं किन्तु उन सब में निरोध करने योग्य प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम [शब्द] प्रमाण ही हैं इनके निरोध से अन्यों का भी निरोध हो जाता है । अतएव यहां योगदर्शन में उक्त तीन प्रमाण ही दिए हैं ।

भाष्यानु०—(इन्द्रियप्रणालिकया चित्तस्य बाह्यवस्तूपरागात्तद्विषया सामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य विशेषावधारणप्रधाना वृत्तिः प्रत्यक्षं प्रमाणम्) इन्द्रियद्वार से चित्त का बाहरी वस्तु के साथ संबन्ध होते ही उस बाहिरी वस्तु को विषय बना सामान्य और विशेष के मिलेजुले धर्मों वाले पदार्थ में 'खम्बा है या मनुष्य दोनों की ऊंचाई मोटाई रूप सामान्य और सरलता स्थिरता आदि खम्बे में पाए जाने वाले या शिर हाथ पांव गति आदि मनुष्य में होने वाले विशेषका निश्चय 'यह खम्बा है मनुष्य नहीं या मनुष्य है खम्बा नहीं' प्रधान हो ऐसी चित्तवृत्ति प्रत्यक्ष प्रमाण है (फलमविशिष्टः पौरुषेयश्चित्तवृत्तिबोधः) पुरुष और चित्त के मेल से पुरुषकृत—पुरुषद्वारा चित्तवृत्ति का बोध होना फल है (प्रतिसंवेदी पुरुष इत्युपरिष्टादुपपादयिष्यामः) प्रत्यक्ष ज्ञान का अनुभव कर्ता पुरुष है यह आगे चलकर हम कहेंगे ।

(अनुमेयस्य तुल्यजातीयेष्वनुवृत्तो भिन्नजातीयेभ्यो व्यावृत्तः

सम्बन्धो यस्तद्विषया सामान्यावधारणप्रधाना वृत्तिरनुमानम्)
अनुमान के साधनरूप धर्म का समान जाति वाले स्थलों में
अनुगत होना--पाया जाना और भिन्न जाति वालों से विगत-
वियुक्त होना—अलग रहना रूप जो सम्बन्ध है उसे विषय
बनाती हुई सामान्य का निश्चय प्रधान जिसमें हो ऐसी चित्त-
वृत्ति अनुमान है (यथा देशान्तरप्राप्तेर्गतिमच्चन्द्रतारकं चैत्रवत्,
विन्ध्यश्चाप्राप्तेरगतिः) जैसे देशान्तरप्राप्ति होने से—एक
स्थान में देख पुनः दूसरे स्थान में देखने से चन्द्र तारा गति-
वाले हैं चैत्र की भांति, चैत्रनामवाला मनुष्य गति के कारण
एक स्थान से दूसरे स्थान में दिखलाई पड़ता है एवं चन्द्रतारे
भी एक स्थान से दूसरे स्थान में गति के कारण ही दिखलाई
पड़ते हैं अतएव वे गति वाले हैं और विन्ध्य अर्थात् पर्वत की
देशान्तरप्राप्ति—एक स्थान से दूसरे स्थान में प्राप्ति न होने से
वह गतिरहित है। 'यहां अनुमान का साधनरूप धर्म है देशा-
न्तरप्राप्ति, जो तुल्य जातीय चैत्र मनुष्य आदि गतिमान् में अनु-
गत है—पाया जाता है और भिन्नजातीय स्थानान्तरित न
होने वाले पर्वत में नहीं पाया जाता है इस प्रकार गतिमत्तारूप
सामान्य ज्ञान का निश्चय ही अनुमान हुआ।

(आप्तेन दृष्टोऽनुमितो वा ऽर्थः परत्र स्वबोधसंक्रान्तये
शब्देनोपदिश्यते शब्दात् तदर्थविषया वृत्तिः श्रोतुरागमः) आप्त
अर्थात् यथार्थ वक्ता विद्वान् के द्वारा साक्षात् किया हुआ-
अनुभव किया हुआ या विद्या से अनुमान किया हुआ विषय

दूसरे के निमित्त स्वबोधसंक्रांति—निजज्ञान की प्रसारता के लिए शब्द से उपदिष्ट किया जाता है, शब्द से उसके अर्थ को विषय बनाने वाली वृत्ति श्रोता के प्रति आगम है (यस्याश्रद्धेयार्थो वक्ता न दृष्टानुमितार्थः स आगमः प्लवते) जिस आगम का अश्रद्धेय श्रद्धा न करने योग्य विषय हो जिसको वक्ता ने स्वयं न साक्षात् किया न जाना हो वह आगम प्लवित हो जाता है–आगमस्थान से च्युत हो जाता है (मूलवक्तरि तु दृष्टानुमितार्थे निर्विप्लवः स्यात्) साक्षात् किए हुए और विद्या द्वारा जाने हुए मूलवक्ता के होने पर आगम यथार्थ में सिद्ध होता है ॥७॥

विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम् ॥८॥

सूत्रार्थ—(अतद्रूपप्रतिष्ठं मिथ्याज्ञानम्) अतद्रूपप्रतिष्ठ वस्तु के निजरूप में अप्रतिष्ठित अर्थात्—अविद्यमान मिथ्या ज्ञान (विपर्ययः) विपर्ययवृत्ति है।

भाष्यानु०—(स कस्मान्न प्रमाणम्) वह विपर्यय' प्रमाण 'वृत्ति' क्यों नहीं है ? (यतः प्रमाणेन बाध्यते) इस लिये कि वह प्रमाण द्वारा बाधित-निराकृत हो जाता है—प्रमाण के सामने ठहरता नहीं है 'क्यों ?' (भूतार्थविषयत्वात् प्रमाणस्य) प्रमाण का विषय सत्तात्मक वस्तु होने से (तत्र प्रमाणेन बाधनमप्रमाणस्य दृष्टम्) प्रमाण से अप्रमाण का निराकृत हो जाना देखा जाता है (तद्यथा—द्विचन्द्रदर्शनं सद्विषयेणैकचन्द्रदर्शनेन बाध्यत इति) जैसा कि दो चन्द्रमा का दीखना सत्तात्मक—वर्तमानविषयक

एक चन्द्र दर्शनरूप प्रत्यक्ष प्रमाण से निराकृत हो जाता है
(सेयं पञ्चपर्वा भवत्यविद्या—अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभि-
निवेशाः क्लेशा इति) वह यह पांच पोरुओं वाली अविद्या
होती है जोकि अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश क्लेश
है (एत एव स्वसंज्ञाभिस्तमो मोहो महामोहस्तामिस्रोऽन्धतामिस्र
इति) ये ही तमः, मोह, महामोह, तामिस्र, अन्धतामिस्र
अपने इन नामों से भी कहे जाते हैं (एते चित्तमलप्रसङ्गे नाभि-
धास्यन्ते) ये चित्तमल के प्रसंग में कहे जायंगे ॥८॥

शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः ॥ ९ ॥

सूत्रार्थ—(शब्दज्ञानानुपाती) शब्दज्ञान का अनुसरण
करने वाला—शब्दार्थ से समझा जानेवाला (वस्तुशून्यः)
वस्तुरहित व्यवहार (विकल्पः) विकल्प वृत्ति है।

भाष्यानु०—(स न प्रमाणोपारोही) वह विकल्प
प्रमाण के अन्तर्गत नहीं होता (न 'च' विपर्ययोपारोही) और
न ही विपर्यय के अन्दर आता है (वस्तुशून्यत्वेऽपि शब्दज्ञान-
माहात्म्यनिबन्धनो व्यवहारो दृश्यते) वस्तु से रहित होने पर
भी शब्दज्ञान के महत्त्व से युक्त व्यवहार देखा जाता है (तद्यथा
चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपमिति) जैसाकि चैतन्य-चेतनत्व आत्मा
का स्वरूप है (यदा चितिरेव पुरुषस्तदा किमत्र केन व्यप-
दिश्यते) जबकि चिति-चेतना ही आत्मा है तब यहाँ किस को
किस से भिन्नता दी जावे (भवति च व्यपदेशे वृत्तिः) और

वृत्ति—वर्तना—षष्ठीविभक्तिरूप 'का, के, की' सम्बन्ध व्यव-हार भेद में होता है (यथा चैत्रस्य गौरिति) जैसे चैत्र मनुष्य की गौ 'यहां चैत्र मनुष्य और उसकी गौ दोनों अलग अलग सत्ताएं हैं परन्तु ऊपर के उदाहरण "चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपम्" में पुरुष अर्थात् चेतन आत्मा का चैतन्य स्वरूप बतलाया गया है इस में चेतन आत्मा से कोई वस्तुरूप चैतन्य अलग नहीं है। इस प्रकार यह व्यवहार वस्तु शून्य होता हुआ भी शब्दज्ञान—शब्दार्थ से समझा समझाया जाता है इसे विकल्प वृत्ति कहा गया है।

(तथा—प्रतिषिद्धवस्तुधर्मो निष्क्रियः पुरुषः) और भी उदाहरण-वस्तुधर्मों से रहित—वस्तुओं के गन्ध आदि धर्मों से रहित एवं क्रियारहित आत्मा है। 'यहां का लक्षण कोई ऐसा नहीं किया गया जो कि उस के अन्दर वस्तु-रूप से विद्यमान हो अत एव यह वस्तु शून्य व्यवहार विकल्प हुआ (तिष्ठति वाणः स्थास्यति स्थित इति, गतिनिवृत्तौ धात्वर्थमात्रं गम्यते) वाण ठहरता है ठहरेगा ठहरगया, 'इस उदाहरण में भी' गति की निवृत्तिमें धातु का अर्थमात्र है कोई क्रियाविशेष वाण के अन्दर होती हुई नहीं है जिसे कहा जाये कि यह 'तिष्ठति' क्रिया है जैसे 'गच्छति, पचति' आदि हैं। वस यह ऐसा व्यवहार विकल्प है (तथा—अनुत्पत्तिधर्मा पुरुष इति) तथा आत्मा उत्पत्तिधर्मरहित है, यहां (उत्पत्ति-धर्मस्याभावमात्रमवगम्यते न पुरुषान्वयी धर्मः) उत्पत्ति धर्म

का अभाव मात्र ही समझा जाता है नकि पुरुष के अन्दर रहने वाला कोई धर्म (तस्माद् विकल्पितः स धर्मस्तेन चास्ति व्यवहार इति) इस से वह धर्म विकल्प है और उस से व्यवहार होता है ॥९॥

अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा ॥ १० ॥

सूत्रार्थ—(अभावप्रत्ययालम्बना) अभाव—शून्यतारूप प्रत्यय अर्थात् प्रतीतिरूप ज्ञान या प्रतिभान ही आलम्बन आश्रय जिस में हो ऐसी (वृत्तिः—निद्रा) वृत्ति निद्रा है‡ ।

विशेष—प्रमाण वृत्ति में वस्तुओं का सद्रूप [यथार्थता] विपर्यय वृत्ति में वस्तुओं का असद्रूप [अयथार्थता] विकल्प वृत्ति में सद्-असद् वस्तु रूप से रहित कल्पित मात्र व्यवहार विषय होता है किन्तु निद्रा में इन से विलक्षण अभाव मात्र शून्यमात्र प्रतीति का आश्रय होने से वह उन से भिन्न वृत्ति है ।

---

‡ वाचस्पति मिश्र ने यहां 'प्रत्यय' शब्द का अर्थ कारण किया है हमारे अर्थों में प्रत्यय-प्रतीति एवं ज्ञान है, व्यास के शब्दों में भी ज्ञान अर्थ भासित हो रहा है "*सा च सम्प्रबोधे प्रत्यवमर्शात् प्रत्ययविशेषः*" (*व्यासः*) वाचस्पति मिश्र के अनुसार सूत्रार्थ निम्न प्रकार हुआ—

(अभावप्रत्ययालम्बना) अभाव—जागृत स्वप्न व्यवहारों की अवर्तमानता का प्रत्यय—कारण रूप अन्धकार आलम्बन—आश्रय जिसमें हो ऐसी (वृत्तिः-निद्रा) वृत्ति निद्रा है ।

भाष्यानु०—(सा च सम्प्रबोधे प्रत्ययमर्शात् प्रत्ययविशेषः) और वह निद्रा जागने पर प्रतिभान-पश्चात् स्मरण से ज्ञान या अनुभव या प्रतीति विशेष है (कथम्) कैसे ? (सुखमहम-स्वाप्सम्) मैं सुख से सोया क्योंकि (प्रसन्नं मे मनः प्रज्ञां मे विशारदीं करोति) मेरा मन प्रसन्न है मेरी बुद्धि को विकसित करता है 'यह सात्विक निद्रा हुई' (दुःखमहमस्वाप्सं स्त्यानं मे मनो भ्रमत्यनवस्थितम्) मैं दुःख से सोया क्योंकि मेरा मन ऊबा हुआ--उड़ा हुआ जैसा और विकल हो भ्रमता है 'यह राजसिक निद्रा हुई' (गाढं मूढोऽहमस्वाप्सम्) मैं मूढ हो गहरा सोया क्योंकि (गुरूणि मे गात्राणि क्लान्तं मे चित्तम्-अलसं मुषितमिव तिष्ठति) मेरे अङ्ग भारी हैं चित्त मेरा ग्लानियुक्त अलसाया और गुम हुआ जैसा है 'यह तामसिक निद्रा हुई' (स खल्वयं प्रबुद्धस्य प्रत्यवमर्शो न स्यादसति प्रत्ययानुभवे तदाश्रिताः स्मृतयश्च तद्विषया न स्युः) वह फिर जागे हुए मनुष्य का प्रतिभान न हो, नीन्द प्रतीति के अनुभव न होने से सुख आदि पूर्वक सोने की स्मृतियां भी न हो सकें (तस्मात् प्रत्यय-विशेषो निद्रा) इससे निद्रा भी ज्ञान या अनुभव या प्रतीति विशेष है (सा च समाधावितरप्रत्ययवन्निरोद्धव्येति) और वह 'निद्रा' भी अन्य प्रतीतियों की भांति निरोध करने योग्य है ॥ १० ॥

अनुभूतविषयासम्प्रमोषःस्मृतिः ॥ ११ ॥

सूत्रार्थ—(अनुभूत—विषय—असम्प्रमोषः) अनुभव कि

हुए विषय का सामने आजाना (स्मृतिः) स्मृति वृत्ति है।

विशेष—मनुष्य संसार में सैकड़ों सहस्रों एवं लाखों विषयों का अनुभव करता है वे समस्त अनुभूत विषय मानस भवन में अन्तर्हित पड़े रहते हैं, जब उनमें से किसी का निमित्त विशेष सामने आता है तो वह विषय अपने समस्त वृत्त के साथ आखड़ा होता है बस इसी का नाम स्मृति है।

भाषानु०—(किं प्रत्ययस्य चित्तं स्मरति-आहोस्विद् विषयस्येति) चित्त क्या प्रतीतिरूप ज्ञान का स्मरण करता है या कि विषय का ? 'उत्तर' (ग्राह्योपरक्तः प्रत्ययो ग्राह्यग्रहणोभयाकारनिर्भासस्तज्जातीयकं संस्कारमारभते) विषय के साथ सम्बन्ध से प्राप्त प्रतीतिरूप ज्ञान विषय और इन्द्रिय दोनों के आकार को लिए हुए वैसा संस्कार उत्पन्न करता है पुनः (स संस्कारः स्वव्यञ्जकाञ्जनस्तदाकारामेव ग्राह्यग्रहणोभयात्मिकां स्मृतिं जनयति) वह संस्कार अपने निमित्त से व्यक्त होने वाला उस जैसी 'निमित्तानुसारी' ग्राह्यग्रहणरूपा-विषय, इन्द्रियरूपा-विषय और इन्द्रिय दोनोंरूपोंवाली स्मृति को उत्पन्न करता है अतः स्मृति न केवल विषय की और न ही केवल प्रतीतिरूप ज्ञान की होती है किन्तु स्मृति का हेतु है संस्कार और संस्कार बनता है विषय तथा 'उसके' इन्द्रिय के द्वारा हुए प्रतीतिरूप ज्ञान से अतः इस दृष्टि से स्मृति में विषय और प्रतीतिरूप ज्ञान दोनों ही कारण हैं, परन्तु (तत्र ग्रहणाकारपूर्वा बुद्धिः-ग्राह्याकारपूर्वा स्मृतिः) इसमें यह नियम है कि इन्द्रिया-

कार के अधीन बुद्धि अर्थात् प्रतीतिरूप ज्ञान होता है पुनः विषयाकार को लेकर स्मृति होती है (सा च द्वयी—भावित-स्मर्तव्या चाभावितस्मर्तव्या च) और वह स्मृति दो प्रकार की है—भावित अर्थात् कृत्रिम मिथ्या स्मरण होने वाली और अभावित अर्थात् अकृत्रिम यथार्थ या स्वाभाविक स्मरण करने योग्य (स्वप्ने भावितस्मर्तव्या जाग्रत्समये त्वभावित-स्मर्तव्येति) स्वप्नावस्था में कृत्रिम—मिथ्या स्मर्तव्य होती है अर्थात् पदार्थों की उलटपलट अस्वाभाविक स्मृति होती है आकाश में उड़ता हुआ अपने को समझना आदि और जाग्रतावस्था में अकृतिम स्मर्तव्य होती हैं अर्थात् वास्तविक स्मरण होता है जैसा और जितना अनुभव किया हो वैसा और उतना ही स्मरण होता है कि मैं वहां गया था उससे मिला था उसे देखा था आदि आदि (सर्वाः स्मृतयः प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतीनामनुभवात्प्रभवन्ति) समस्त स्मृतियां प्रमाण-विपर्यय-विकल्प-निद्रा-स्मृति से उत्पन्न होती हैं (सर्वाश्चैता वृत्तयः सुखदुःखमोहात्मिकाः) सारी ही ये वृत्तियां सुख दुःख मोह रूप हैं (सुखदुःखाश्च क्लेशेषु व्याख्येयाः) और सुख दुःख क्लेशों में कहे जाने वाले हैं (सुखानुशयी रागः दुःखानुशयी द्वेषः—मोहः पुनरविद्येति) सुख के पीछे रहने वाला राग है दुःख के पीछे रहने वाला द्वेष और मोह अविद्या है (एताः सर्वा वृत्तयो निरोद्धव्याः) यह सारी वृत्तियां निरोध करने योग्य हैं (आसां निरोधे सम्प्रज्ञात

वा समाधिर्भवत्यसम्प्रज्ञातो वेति) इनके निरोध में सम्प्रज्ञात समाधि होती है या असम्प्रज्ञात समाधि होती है ॥११॥

अव०—(अथासां निरोधे क उपाय इति—) अब इनके निरोध में क्या उपाय है 'यह बतलाया जाता है'—

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ॥१२॥

सूत्रार्थ—(तन्निरोधः) उन वृत्तियों का निरोध (अभ्यास-वैराग्याभ्याम्) अभ्यास और वैराग्य के द्वारा होता है।

भाष्यानु०—(चित्तनदी नामोभयतो वाहिनी) चित्तरूप नदी दो ओर बहने वाली है (वहति कल्याणाय वहति पापाय च) बहती है पुण्य के लिये और बहतीहै पाप के लिये (या तु कैवल्य-प्राग्भारा विवेकविषयनिम्ना सा कल्याणवहा) जो तो मोक्ष को सामने रख कर बहने वाली—मोक्ष की ओर जाने वाली विवेक विषय जिसका बहने का स्थान है वह पुण्यवहा—पुण्य फल वाली है (संसारप्राग्भाराऽविवेकविषयनिम्ना पापवहा) संसार को सामने रख कर बहने वाली—संसार की ओर जाने वाली अविवेक विषय जिसका बहने का स्थान है वह पापवहा पाप फल वाली है (तत्र वैराग्येण विषयस्रोतः खिली क्रियते) वैराग्य से विषयस्रोत—संसार की ओर जाने वाला प्रवाह बन्द किया जाता है (विवेकदर्शनाभ्यासेन विवेकस्रोत उद्घाट्यते) विवेक दर्शन के अभ्यास से विवेकस्रोत—मोक्ष की ओर जाने वाला प्रवाह उभारा जाता है (इत्युभयाधीन-श्चित्तवृत्तिनिरोधः) इस प्रकार दोनों अर्थात् अभ्यास और

वैराग्य के अधीन चित्तवृत्तिनिरोध है ॥१२॥

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः ॥१३॥

सूत्रार्थ—(तत्र) उन में—अभ्यास और वैराग्य में (अभ्यासः) अभ्यास वह है जो कि (स्थितौ यत्नः) चित्त की स्थिति अर्थात् निजरूपता या स्थिरता के निमित्त जो यत्न—उपाय—आचरणीय कर्म है।

भाष्यानु०—(चित्तस्यावृत्तिकस्य प्रशान्तवाहिता स्थितिः) वृत्तिरहित चित्त की स्थिति प्रशान्तवाहिता-अविकलरूप निस्तरङ्गरूप से बहने वाली है—रहने वाली है (तदर्थः प्रयत्नो वीर्यमुत्साहः) उसके लिये—उसके सम्पादनार्थ प्रयत्न पराक्रम या उत्साह 'करना चाहिये' (तत्सम्पिपादयिषया तत्साधनानुष्ठानमभ्यासः) उस प्रयत्न पराक्रम या उत्साह के सम्पादन की इच्छा से उसके साधनों का अनुष्ठान अर्थात् सेवन आचरण करना अभ्यास कहलाता है जो कि अष्टाङ्गयोग के नाम से आगे कहा जाने वाला है ॥ १३ ॥

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः ॥१४॥

सूत्रार्थ—(सः—तु) वह तो—और वह अभ्यास (दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितः) दीर्घकाल, निरन्तर और सत्कार से सेवन किया हुआ (दृढभूमिः) पक्की भूमिवाला हो जाता है।

भाष्यानु०—(दीर्घकालासेवितो निरन्तरासेवितः सत्करासेवितः) दीर्घकाल से सेवन किया हुआ निरन्तर सेवन किया

हुआ सत्कार से सेवन किया हुआ (तपसा ब्रह्मचर्येण विद्यया श्रद्धया च सम्पादितः सत्कारवान् दृढभूमि र्भवति) तप से ब्रह्मचर्य से विद्या से श्रद्धा से सम्पादित किया हुआ सत्कार-वान् दृढभूमि होता है (व्युत्थानसंस्कारेण द्रागित्येवानभिभूतविषय इत्यर्थः) व्युत्थानसंस्कार से—अस्थिरवृत्तिप्रवाह के संस्कार से सहसा न दबनेवाला होजाता है यह तात्पर्य है ॥ १४ ॥

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् ॥१५॥

सूत्रार्थ—(दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य) दृष्ट—इन्द्रियों द्वारा साक्षात् किए हुए विषयों से और आनुश्रविक—शास्त्र एवं आचार्यों के द्वारा सुने गए—इस लोक से परे के या इन्द्रियों से परे के अतीन्द्रिय विषयों से वितृष्ण अर्थात् वासनारहित मनुष्य की (वशीकारसंज्ञा) वशीकारप्रतीति—स्वाधीनत्वानुभूति अर्थात्—उन दोनों दृष्ट और आनुश्रविक विषयों में न जाने न फंसने देने की साधिकार भावना या साधिकार प्रतीति+ (वैराग्यम्) वैराग्य है।

+ यहां सूत्र में 'वशीकारसंज्ञा' में संज्ञा शब्द अभिधान नामधेय या नाम का अर्थ नहीं रखता है कि वशीकार नामवाला, जैसा कि वाचस्पति मिश्र की टिप्पणी में माना गया है किन्तु संज्ञा का अर्थ संज्ञान (प्रतीति या अनुभव) है व्यासभाष्य और भोजवृत्ति में भी ऐसा ही अर्थ दिया है, जैसे—"विषयदोषदर्शिनः प्रसंख्यान-

भाष्यानु०—(स्त्रियोऽन्नपानमैश्वर्यमिति दृष्टविषये वितृष्णस्य, स्वर्गवैदेह्यप्रकृतिलयत्वप्राप्तावानुश्रविकविषये वितृष्णस्य दिव्यादिव्यविषयसम्प्रयोगेऽपि चित्तस्य विषयदोषदर्शिनः प्रसंख्यानबलादनाभोगात्मिका हेयोपादेयशून्या वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्) स्त्रियों, अन्न, पान—खाने पीने की वस्तुएं और धन सम्पत्ति रूप दृष्ट विषय में वासनारहित 'चित्त' तथा स्वर्ग

बलादनाभोगात्मिका हेयोपादेयशून्या वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्'' अर्थात् विषय दोषों के देखने वाले मनुष्य की जो विवेकबल से भोग रहिततारूप हेय-उपादेय शून्य हुई वशीकार प्रतीति है वह वैराग्य है। यदि संज्ञा शब्द नाम या अभिधान का वाचक होता तो व्यास की यह व्याख्या न होती और उसे ऐसे लिखना पड़ता ''अलाभोगात्मकं हेयोपादेयशून्यं वशीकारसंज्ञं वैराग्यम'' । तथा भोजवृत्तिमें भी 'वशीकारसंज्ञा' में संज्ञा शब्द नाम का पर्याय नहीं किन्तु संज्ञान अनुभव प्रतीति का वाचक है ''तयोर्द्वयोरपि विषययोः परिणामविरसत्वदर्शनाद् विगतगर्धस्य वशीकारसंज्ञा ममैते वश्या नाहमेतेषां वश्य इति योऽयं विमर्शस्तद् वैराग्यमित्युच्यते'' अर्थात् उन दोनों दृष्ट आनुश्राविक विषयों के परिणाम में विरसता के दर्शन से तृष्णा-रहित मनुष्य की वशीकार प्रतीति होना कि 'ये मेरे वश में हैं न कि मैं इनके वश में' ऐसा विचार अनुभव वैराग्य है। यहां भोज-वृति में वशीकार शब्द को स्पष्ट करना कि 'ये मेरे वश में हैं न कि मैं इनके वश में ऐसे विचार अनुभव करना' कथन से संज्ञा का अर्थ प्रतीति या अनुभूति है यह सूचित होता है। तथा ''यदा मिथ्याज्ञानं

अर्थात् पुनर्जन्मविषयक सुखविशेष, वैदेह्य—इन्द्रियों के अभ्यास से और प्रकृतिलयत्व—प्राकृतिक तत्त्वों के अभ्यास से योग सुख की प्राप्तिरूप आनुश्रविक विषय में वासनारहित एवं इन दिव्य, अदिव्य दोनों विषयों के सेवन में विषयदोषदर्शी चित्त की जो विवेकज्ञान रूपबल से न भोगने की हेय और उपादेय से रहित वशीकार भावना है वह वैराग्य है ॥१५॥

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् ॥१६॥

सूत्रार्थ—(तत्परम्) उस से पर अर्थात् दृष्टानुश्रविकविषय दोषदर्शनरूप वैराग्य से परे एवं उत्कृष्ट वैराग्य है (पुरुषख्यातेः—गुणवैतृष्ण्यम्) पुरुषदर्शन—परमात्मादर्शन से सत्व रजः तमः गुणों में तृष्णा का अभाव होना।

विशेष—वैराग्य दो प्रकार से होता है, एक तो किसी वस्तु के दोषदर्शन द्वारा उस वस्तु से घृणारूप वैराग्य हुआ करता है वह अवर या अपर कोटि का वैराग्य है और दूसरा अन्य उत्कृष्ट श्रेष्ठ वस्तु के गुणदर्शन द्वारा पूर्व की दोषयुक्त वस्तु

दग्धबीजभावं वन्ध्यप्रसवं सम्पद्यते तदा निर्धूतक्लेशरजसः सत्वस्य परे वैशारद्ये परस्यां वशीकारसंज्ञायां वर्तमानस्य विवेकप्रत्ययप्रवाहो निर्मलो भवति" (२।२६ व्यासः) यहां पर भी 'परस्यां वशीकारसंज्ञायां वर्तमानस्य' से वशीकार संज्ञा का तात्पर्य संज्ञा नाम से नहीं किन्तु वशीकारानुभूति है। और भी "निर्धूतरजस्तमोमलस्य बुद्धिसत्वस्य परे वैशारद्ये परस्यां वशीकारसंज्ञायां वर्तमानस्य सत्वपुरुषान्यताख्यातिमात्ररूपप्रतिष्ठस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वम्" (३।४९ व्यासभाष्यम्)

में सदैव अप्रवृत्ति रहना, यह उससे वर अर्थात् श्रेष्ठ अथवा पर अर्थात् उत्कृष्ट है। जैसे किसी बालक को लाल मिरच खाने पर मुंह जल जाने आंखों में पानी आ जाने आंतों में गरमी आदि दोषों को देखकर लाल मिरच से घृणारूप वैराग्य हो गया यह वैराग्य दोष दर्शन के कारण है साथ में जब उस बालक को लाल मिरच के स्थान पर कोई रसीला मीठा फल मिल जावे जिसके खाने से मुख में उत्तम स्वाद आंखों में तरावट आंतों में तृप्ति मन में सन्तोष और आनन्द प्राप्त हो तो इस प्रकार गुणदर्शन द्वारा उस लाल मरिच की ओर से मन का सर्वथा अलग रहनारूप वैराग्य हो गया, यह वैराग्य उससे ऊंचा है जो लाल मरिच से विशेष दूर हटाए रखता है इसी प्रकार यहां भी समझना चाहिए अर्थात् एक वैराग्य हुआ विषयों से उनके दोषदर्शनद्वारा, दूसरा परमात्मदर्शन के आनन्द से विषयों की ओर अप्रवृत्ति हो जाना।

भष्यानु०—(दृष्टानुश्रविकविषयदोषदर्शी विरक्तः पुरुषदर्शनाभ्यासात्तच्छुद्धिप्रविवेकाप्यायितबुद्धिर्गुणेभ्यो व्यक्ताव्यक्तधर्मकेभ्यो विरक्त इति) दृष्ट-आनुश्रविक विषयों का दोषदर्शी विरक्त हुआ जन परमात्मदर्शन के अभ्यास से निर्मलताद्वारा विकसित बुद्धिवाला बन जाता है तब प्रकट- अप्रकट धर्म वाले सत्त्व रजः तमः गुणों से विरक्त हो जाता है (तद् द्वयं वैराग्यम्) वह दो प्रकार का वैराग्य है (तद् यदुत्तरं तज्ज्ञानप्रसादमात्रम्) उनमें जो पिछला वैराग्य है वह ज्ञान

विकास मात्र है (यस्योदये सति योगी प्रत्युदितख्यातिरेवं मन्यते-प्राप्तं प्रापणीयं क्षीणाः क्षेतव्याः क्लेशाः छिन्नः श्लिष्टपर्वा भवसंक्रमः, यस्याविच्छेदाज्जनित्वा म्रियते मृत्वा च जायत इति) जिसके उदय होने पर योगी प्रतिभासित-परमात्मदर्शनवाला हो ऐसा मानता है प्राप्त करने योग्य प्राप्त होगया क्षीण करने योग्य क्लेश क्षीण हो गए जकड़ी हुई पर्वों वाला संसारप्रबन्ध छिन्नभिन्न हो गया जिसके छिन्न भिन्न न होने से प्राणी उत्पन्न होकर मरता है और मरकर जन्मता है (ज्ञानस्यैव पराकाष्ठा वैराग्यम्) ज्ञान-ज्ञानविकास की ही पराकाष्ठा-उत्कृष्ट सीमा वैराग्य है (एतस्यैव हि नान्तरीयकं कैवल्यमिति) इसी के ही अविनाभाव अनीवर्य सेवन से कैवल्य अर्थात् मोक्ष सिद्ध होता है ॥ १६ ॥

अव०-(अथोपायद्वयेन निरुद्धचित्तवृत्तेः कथमुच्यते सम्प्रज्ञातः समाधिरिति—) अब दोनों उपायों 'अभ्यास वैराग्य' द्वारा निरुद्ध हुई चित्तवृत्तिवाले मनुष्य की सम्प्रज्ञात समाधि कैसे होती है ? यह बतलाया जाता है—

वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात् सम्प्रज्ञातः ॥ १७ ॥

सूत्रार्थ—(वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात्) वितर्क, विचार, आनन्द, अस्मिता के रूपानुगम—धर्मानुभव से (सम्प्रज्ञातः) सम्प्रज्ञात समाधि होती है ।

विशेष—सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात नाम से दो प्रकार की समाधि होती है। सम्प्रज्ञात में किसी वस्तु का सम्प्रज्ञान—बोध

रहता है इस में वस्तु का आश्रय होता है वही वस्तु समाधि में प्रतीत हुआ करती है अतएव इस समाधि को सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। असम्प्रज्ञात समाधि में कोई आलम्बन नहीं होता उसका वर्णन अगले सूत्र में आने वाला है। अवलम्बन के भेद से सम्प्रज्ञात समाधि के भी भेद हो जाते हैं वे आलम्बन चार कहे हैं अतएव सम्प्रज्ञात समाधि के भी चार भेद हुए। वितर्क आलम्बन से वितर्करूपानुगम, विचार आलम्बन से विचाररूपानुगम, आनन्द आलम्बन से आनन्दरूपानुगम, अस्मिता आलम्बन से अस्मितारूपानुगम समाधि होती है। यहां वितर्क, विचार, आनन्द, अस्मिता शब्द पारिभाषिक हैं जो कि क्रमशः स्थूल, सूक्ष्म, अव्यक्त या कारण प्रकृति, स्वात्मा के वाचक हैं इनका विस्तार व्यास भाष्य एवं भाष्यानुवाद में देखें।

भाष्यानु०—(वितर्कश्चितस्यालम्वने स्थूल आभोगः) चित्त के आलम्बन में स्थूल वस्तु का सहारा वितर्क है (सूक्ष्मो विचारः) चित्त के आलम्बन में सूक्ष्म वस्तु का सहारा विचार है (आनन्दो ह्लादः) चित के आलम्बन में अव्यक्त वस्तु—कारण प्रकृति का सहारा आनन्द है (एकात्मिका संविद-स्मिता) चित्त के आलम्बन में एक अपने आत्मा की प्रतीति अस्मिता है (तत्र प्रथमश्चतुष्टयानुगतः समाधिः सवितर्कः) उन चारों में से प्रथम समाधि—स्थूल वस्तु के द्वारा हुई समाधि सवितर्क है (द्वितीयो वितर्कविकलः सविचारः) दूसरी वितर्क से आगे बढ़ी हुई समाधि—सूक्ष्म वस्तु के द्वारा

हुई समाधि सविचार है (तृतीयो विचारविकल: सानन्द:) तीसरी विचार से आगे बढी हुई समाधि—अव्यक्त कारण प्रकृति द्वारा हुई समाधि सानन्द है (चतुर्थस्तद्विकलोऽस्मितामात्र इति) चौथी उससे भी आगे बढी हुई, अपने आत्मतत्त्व के द्वारा हुई समाधि अस्मितामात्र है (सर्व एते सालम्बना: समाधय:) सब ही ये सालम्बन अर्थात् आलम्बनसहित समाधि हुई ॥ १७ ॥

अव०—(अथासम्प्रज्ञात: समाधि: किमुपाय: किंस्वभावो वेति—) अब असम्प्रज्ञात समाधि किस उपाय और किस स्वभाववाली होती है यह कहते हैं—

विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्व: संस्कारशेषोऽन्य: ॥ १८ ॥

सूत्रार्थ—(विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्व:) वितर्क, विचार, आनन्द, अस्मिता के अभ्यासपूर्वक विराम अर्थात अवसान पर्यवसान सर्वथा अभावरूप प्रत्यय अर्थात् भान या अनुभव (संस्कारशेष:) संस्कारों से शेष—अवशेष—रहित रूप (अन्य:) सम्प्रज्ञात से भिन्न—असम्प्रज्ञात समाधि है।

भाष्यानु०-(सर्ववृत्तिप्रत्यस्तमये संस्कारशेषो निरोधश्चित्तस्य समाधिरसम्प्रज्ञात:) समस्तवृत्तियों के लीन हो जाने पर संस्कारों से अवशेष-रहितरूप चित्त का निरोध असम्प्रज्ञात समाधि है (तस्य परं वैराग्यमुपाय:) उसका पर वैराग्य उपाय है। क्योंकि (सालम्बनो ह्यभ्यासस्तत्साधनाय न कल्पत इति विरामप्रत्ययो निर्वस्तुक आलम्बनी क्रियते) अभ्यास आलम्बन पर

होता है उसके साधन के लिए युक्त नहीं है इसलिये विराम-प्रत्यय अर्थात्—उक्त वितर्क आदि आलम्बनरहित प्रतिभान निर्वस्तुक-वस्तुशून्य आलम्बन किया जाता है (स चार्थशून्यः) और वह वस्तुशून्य है (तदभ्यासपूर्वकं हि चित्तं निरालम्बन-मभावप्राप्तमिव भवतीत्येवं निर्बीजः समाधिरसम्प्रज्ञातः) उसके अभ्यासपूर्वक ही चित्त निरालम्बन हो अभावरूप सा हो जाता है बस यह निर्बीज समाधि असम्प्रज्ञात है ॥ १८॥

अव०—(स खल्वयं द्विविधः—उपायप्रत्ययो भवप्रत्ययश्च, तत्रोपायप्रत्ययो 'मुमुक्षूणां' योगिनां भवति) वह असम्प्रज्ञात समाधि दो प्रकार की है एक 'उपायप्रत्यय' नामक अर्थात् उपगमन—उपराम—मोक्ष की प्रतीति या अनुभव कराने वाली और दूसरी 'भवप्रत्यय' अर्थात् संसार की प्रतीति या अनुभव कराने वाली समाधि। इनमें 'उपायप्रत्यय' समाधि मुमुक्षु योगियों की होती है 'परन्तु'——

भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम् ॥ १९ ॥

सूत्रार्थ०-(भवप्रत्ययः) 'भवप्रत्यय' नामक असम्प्रज्ञात समाधि (विदेहप्रकृतिलयानाम्) विदेह और प्रकृतिलय योगियों की होती है।

विशेष—इस सूत्र के अवतरण में कुछ भूल है वह यह कि 'उपायप्रत्ययो योगिनाम्' उपायप्रत्यय असम्प्रज्ञात समाधि योगियों की होती है'। यहां 'योगिनां' पद के स्थान में 'मुमुक्षूणां' होना चाहिए अथवा 'योगिनां' का विशेषण रूप में साथ

होना चाहिए 'मुमुक्षूणां योगिनां' कारण कि सम्प्रज्ञात समाधि से ऊपर असम्प्रज्ञात समाधि है जिसका लक्षण पूर्वसूत्र "विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः" में किया गया है। असम्प्रज्ञात निरोध समाधि का नाम है और सम्प्रज्ञात एकाग्र समाधि का, जब कि "अथ योगानुशासनम्" इस प्रथम सूत्र के भाष्य में ही भाष्यकार व्यास ने कथन कर दिया कि "योगः समाधिः" योग कहते हैं समाधि को और वह एकाग्र तथा निरोध दो प्रकार की मानी है, तब समाधि का अभ्यासी जन योगी कहलायगा और फिर सम्प्रज्ञात समाधि से भी ऊपर असम्प्रज्ञात समाधि के ही भेद उपायप्रत्यय और भवप्रत्यय हैं पुनः उपायप्रत्यय समाधि को योगियों की बतलाना और भवप्रत्यय समाधि योगियों की न कहाजाना अयुक्त है। यही अयुक्त बात अगले सूत्र "श्रद्धावीर्य०" के भाष्य में दोहराई गई है 'उपायप्रत्ययो योगिनां भवति'। इसलिये दोनों स्थलों पर 'योगिनां' के स्थान में 'मुमुक्षूणां' पद होना चाहिए अथवा 'योगिनां' का विशेषण रूप में 'मुमुक्षूणां योगिनां' साथ होगा ऐसा जानना चाहिये। अतएव यहां वाचस्पति मिश्र को भी 'योगिनां मोक्ष्यमाणानां' ऐसा लिखना पड़ा।

(ख) उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हुआ कि योगी दो प्रकार के हुये, एक मुमुक्षु योगी दूसरे अमुमुक्षु योगी। ये दोनों प्रकार के योगी असम्प्रज्ञात समाधि तक जाते हैं, मुमुक्षु योगी

उपायप्रत्यय समाधि के साधने वाले और अमुमुक्षु योगी अर्थात् जीवन् मुक्त योगी भवप्रत्यय समाधि के अभ्यासी होते हैं। भवप्रत्ययरूप असम्प्रज्ञात समाधि किन की होती है यहां सूत्र में कहा है कि विदेह और प्रकृतिलय योगियों की। विदेह योगी जो देह अर्थात् शरीर—इन्द्रिय और मन आदि अन्तःकरण के सम्बन्ध से विगत हो चुके योग के ग्रहणमार्ग द्वारा अहङ्कार का भी निरोध कर असम्प्रज्ञात समाधि पर पहुँच चुके और प्रकृतिलय योगी जो प्रकृति अर्थात् गन्धतन्मात्रा रसतन्मात्रा रूपतन्मात्रा स्पर्शतन्मात्रा शब्दतन्मात्रा अहंकाररूप विकार महत्तत्व और प्रकृति का लय कर चुके योग के ग्राह्यमार्ग द्वारा प्रकृति (उपादान कारणरूप अव्यक्त वस्तु) का भी निरोध कर असम्प्रज्ञात समाधि पर पहुंच चुके। ये ऐसे दोनों प्रकृतिलय और विदेह योगी जीवन् मुक्त योगी होते हैं सर्वथा मुक्त नहीं कारण कि इन दोनों की असम्प्रज्ञात समाधि अध्यात्मविद्या की रीति से 'नेति नेति'—'ऐसा नहीं ऐसा नहीं' को निर्गुण उपासना का परिणाम है। परमात्मा की उपासना दो प्रकार की होती है, एक निर्गुण और दूसरी सगुण। निर्गुण के दो भेद हैं, एक ईश्वर में प्रकृति के धर्मों का अभाव दर्शनरूप असम्प्रज्ञात समाधि को प्राप्त करना इसके अभ्यासी प्रकृतिलय कहलाते हैं और दूसरे परमात्मा में जीवधर्मों का अभावदर्शन रूप असम्प्रज्ञात समाधि के अभ्यासी विदेह कहलाते हैं। ईश्वर की सगुण उपासना में ईश्वर के अपने गुणों के

आधार पर योग के ग्रहीतृमार्ग द्वारा असम्प्रज्ञात समाधि 'उपायप्रत्यय' अर्थात् मोक्ष की प्रतीति प्राप्ति कराने वाली है, अन्य प्रकृतिलय और विदेह जीवन्मुक्त योगियों की असम्प्रज्ञात समाधि 'भवप्रत्यय' जन्म की प्रतीति कराने वाली होती है ॥

भाष्यानु०—(विदेहानां देवानां भवप्रत्ययः) विदेहों अर्थात् देवों दिव्यगुणवालों की 'भवप्रत्यय' समाधि होती है (ते हि स्वसंस्कारमात्रोपयोगेन चित्तेन कैवल्यपदमिवानुभवन्तः स्वसंस्कारविपाकं तथाजातीयकमतिवाहयन्ति) वे ही स्व-संस्कार मात्र के उपयोग वाले चित्त द्वारा कैवल्यपद जैसा अनु-भव करते हुए उसी ढंग के स्वसंस्काररूप फल पर निर्वाह करते हैं (तथा प्रकृतिलयाः साधिकारे चेतसि प्रकृतिलीने कैवल्यपद-मिवानुभवन्ति यावन्न पुनरावर्ततेऽधिकारवशाच्चित्तमिति) और प्रकृतिलय योगी प्रकृतिलीन वाले चित्त में ग्राह्यमार्ग द्वारा प्रकृति को भी लीन कर दिया जिस चित्त में * उस तथा साधि-कार अर्थात् सत्व रजः तमः रूप गुणों का नियन्त्रण जिस में हो ऐसे चित्त के आधार पर कैवल्यपद मोक्ष पद जैसा अनुभव करते हैं जब तक फिर अधिकार वश से चित्त लौटता नहीं ॥ १९ ॥

* "तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजःसमाधिः" (याग० । समाधिपाद । ५१) अलिंग रूप प्रकृति के निरोध हो जाने पर सर्वनिरोध से निर्बीज समाधि होती है ।

श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम् ॥ २० ॥

सूत्रार्थ—(इतरेषाम्) विदेह और प्रकृतिलय योगियों से भिन्न मुमुक्षु योगियों की (श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वकः) श्रद्धा-वीर्य-स्मृति-समाधि प्रज्ञापूर्वक असम्प्रज्ञात समाधि होती है+ ।

भाष्यानु०(—उपायप्रत्ययो 'मुमुक्षूणां' योगिनाम्) मुमुक्षु योगियों की समाधि 'उपायप्रत्यय' अर्थात् मोक्ष की प्रतीति कराने वाली-मोक्ष को प्राप्त कराने वाली होती है (श्रद्धा चेतसः सम्प्रसादः) चित्त का उल्लास श्रद्धा है (सा हि जननीव कल्याणी योगिनं पाति) वह ही माता की भांति कल्याण-रूपा होती हुई योगी की रक्षा करती है (तस्य हि श्रद्धानस्य विवेकार्थिनो वीर्यमुपजायते) उसी श्रद्धावान् विवेकार्थी योगी का बल प्रकट होता है (समुपजातवीर्यस्य स्मृतिरुपतिष्ठते) बल को प्राप्त हुए योगी की स्मृतिशक्ति-ज्ञानशक्ति उपजती है (स्मृत्युपस्थाने च चित्तमनाकुलं समाधीयते) ज्ञानशक्ति के उपजने पर बाधा बिना चित्त समाहित होजाता है (समाहित-चित्तस्य प्रज्ञाविवेक उपावर्तते) समाहित चित्तवाले योगी का

+ईश्वर की सगुणोपासना योग के ग्रहीतृमार्ग द्वारा होती है जो कि जागृत-स्वप्न सुषुप्त-तुरीय अवस्था सम्बन्धी ब्रह्मोपासना अर्थात् ओंकारोपासना है उसी से श्रद्धा आदि पूर्वक 'उपायप्रत्यय' मोक्षप्रद समाधि होती है।

प्रज्ञाविवेक प्रकट होजाता है (येन यथार्थवस्तु जानाति) जिस से वस्तु को यथार्थ समझ लेता है (तदभ्यासात्तद्विषयाच्च वैराग्यादसम्प्रज्ञातः समाधिर्भवति) उसके अभ्यास और उसविषयक वैराग्य से असम्प्रज्ञात समाधि होती है ॥ २० ॥

तीव्रसंवेगानामासन्नः ॥ २१ ॥

सूत्रार्थ –(तीव्रसंवेगानाम्) तीव्र संवेगवालों–तीव्र प्रवाहवालों–शीघ्र प्रवृत्ति वालों--प्रखर प्रयत्नवालों का समाधि प्राप्त करना (आसन्नः) निकट हो जाता है।

भाष्यानु०—(ते खलु नव योगिनो मृदुमध्याधिमात्रोपाया भवन्ति) वे फिर श्रद्धादियुक्त योगी मृदु-मध्य-अधिमात्र उपायों के भेद से नौ होते हैं (तद्यथा-मृदूपायो मध्योपायो ऽधिमात्रोपाय इति) जैसा कि मृदु-उपाय वाला मध्य-उपाय वाला अधिमात्र उपायवाला (तत्र मृदूपायस्त्रिधा–मृदुसंवेगो मध्य-संवेगस्तीव्रसंवेग इति) उनमें मृदु उपाय वाले तीन हैं—मृदु-संवेग, मध्यसंवेग, तीव्रसंवेग (तथा मध्योपायस्तथाऽधिमात्रो-पाय इति) इसी प्रकार मध्य उपाय वाले और अधिमात्रोपाय वाले भी तीन तीन होते हैं (तत्राधिमात्रोपायानाम्—) उनमें से अधिमात्रोपायवालों का "तीव्रसंवेगानामासन्नः" आसन्न-शीघ्र (समाधिलाभः समाधिफलं च भवतीति) समाधिलाभ और समाधिफल हो जाता है ॥ २१ ॥

मृदुमध्याधिमात्रत्वात्ततोऽपि विशेषः ॥२२॥

सूत्रार्थ—(मृदुमध्याधिमात्रत्वात्) मृदुता मध्यता अधिमात्रत

के भेद से (ततः-अपि) उससे भी (विशेषः) शीघ्र समाधि-लाभ और शीघ्र समाधि फल होता है।

भाष्यानु०—(मृदुतीव्रो मध्यतीव्रोऽधिमात्रतीव्र इति) मृदुतीव्र, मध्यतीव्र, अधिमात्रतीव्र (ततोऽपि विशेषः—तद्विशेषादपि मृदुतीव्रसंवेगस्यासन्नः) उस विशेष से भी मृदुतीव्रसंवेग का आसन्न अर्थात् निकट (ततो मध्यतीव्रसंवेगस्यासन्नतरः) उस से मध्यतीव्रसंवेग का आसन्नतर–निकटतर (तस्मादधिमात्र-संवेगस्याधिमात्रोपायस्याप्यासन्नतमः समाधिलाभः समाधिफलं चेति) उससे भी विशेष अधिमात्र तीव्र संवेग अधिमात्रोपाय वाले का निकटतम समाधिलाभ और समाधिफल होता है ॥२२॥

अव०—(किमेतस्मादेवासन्नतमः समाधि र्भवत्यथास्य लाभे भवत्यन्योऽपि कश्चिदुपायो न वेति—)क्या इसीसे अतिनिकट समाधि होती है अथवा इसके लाभ में अन्य भी कोई उपाय है या नहीं ?—

ईश्वरप्रणिधानाद्वा ॥२३॥

सूत्रार्थ—(वा) या (ईश्वरप्रणिधानात्) ईश्वरप्रणिधान—ईश्वर की भक्तिविशेष—ईश्वर के प्रति आत्मसमर्पण द्वारा ध्याननिमग्न होने से समाधि शीघ्र होती है।

भाष्यानु०—(प्रणिधानाद् भक्तिविशेषादावर्जित ईश्वरस्तम-नुगृह्णात्यभिध्यानमात्रेण) प्रणिधान अर्थात् भक्तिविशेष से अङ्गीकार किया हुआ ईश्वर उस भक्त पर भावनारूप सङ्कल्प से अनुग्रह करता है (तदभिध्यानमात्रादपि योगिन आसन्न-

तमः समाधिलाभः समाधिफलं च भवतीति) इस भावना-रूप संकल्प से योगी का समाधिलाभ और समाधिफल निकट-तम अत्यन्त शीघ्र हो जाया करता है ॥२३॥

अव०—(अथ प्रधानपुरुषव्यतिरिक्तः कोऽयमीश्वरो नामेति-) अब प्रकृति और पुरुष से अतिरिक्त कौन यह ईश्वर है ?—

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ॥२४॥

सूत्रार्थ—(क्लेशकर्मविपाकाशयैः) अविद्या आदि पांच क्लेश, कर्म, फल और वासनाओं से (अपरामृष्टः) सम्पर्क-रहित—संसर्गरहित (पुरुषविशेषः) पुरुषविशेष (ईश्वरः) ईश्वर है।

आशय—ईश्वर वह चेतन देव है जो अविद्या आदि क्लेशों, कर्मों, फलों और वासनाओं से पृथक् है इन में कभी नहीं पड़ता है अर्थात् जीवात्मा से भिन्न अजन्मा निराकार विशेष चेतन देव ईश्वर है।

भाष्यानु०—(अविद्यादयः क्लेशाः) अविद्या आदि अर्थात् "अविद्या-अस्मिता-राग-द्वेष-अभिनिवेश' ये आगे कहे जाने वाले पांच क्लेश (कुशलाकुशलानि कर्माणि) पुण्य-अपुण्य कर्म (तत्फलं विपाकः) विपाक कर्मों का फल (तदनुगुणा वासना आशयाः) आशय अर्थात् उन फलों के अनुरूप शेष रह जाने वाली वासनाएं हैं (ते च मनसि वर्तमानाः पुरुषे व्यपदिश्यन्ते स हि तत्फलस्य भोक्तेति) और वे मन में वर्तमान हुए पुरुष अर्थात् आत्मा में व्यवहृत होते हैं कारण

कि वह ही उनके फलों का भोक्ता है (यथा जयः पराजयो वा योद्धृषु वर्त्तमानः स्वामिनि व्यपदिश्यते) जैसे जय या पराजय योद्धाओं में होता हुआ स्वामी अर्थात् राजा में व्यवहृत होता है (यो ह्यनेन भोगेनापरामृष्टः स पुरुषविशेष ईश्वरः) जो ही इस भोग से सम्बन्ध न रखता हुआ है वह पुरुषविशेष ईश्वर है।

(कैवल्यं प्राप्तास्तर्हि सन्ति च बहवः केवलिनः) कैवल्य को प्राप्त हुए हुए हैं बहुतेरे केवली योगीजन (ते हि त्रीणि बन्धनानि छित्त्वा कैवल्यं प्राप्ता ईश्वरस्य च तत्सम्बन्धो न भूतो न भावी) वे ही तीन बन्धनों--स्थूल सूक्ष्म कारण शरीर के बन्धनों का छेदन करके कैवल्य को प्राप्त हुए परन्तु ईश्वर का उन से सम्बन्ध न हुआ न होने वाला (यथा मुक्तस्य पूर्वा बन्धकोटिः प्रज्ञायते नैवमीश्वरस्य) जैसे मुक्त की पहली बन्धकोटि जानी जाती है ऐसे ईश्वर की नहीं (यथा वा प्रकृतिलीनस्योत्तरा बन्धकोटिः संभाव्यते नैवमीश्वरस्य) या जैसे प्रकृतिलीन की होने वाली बन्धकोटि संभावित है—होनेवाली है ऐसे ईश्वर की नहीं (स तु सदैव मुक्तः सदैवेश्वर इति) वह तो सदा ही मुक्त है सदा ही ईश्वर है।

योऽसौ प्रकृष्टसत्त्वोपादानादीश्वरस्य शाश्वतिक उत्कर्षः स किं सनिमित्त आहोस्विन्निर्निमित्त इति) जो यह प्रकृष्ट सत्त्व-अत्युच्च गुणबलरूप के ग्रहण से ईश्वर का शाश्वतिक—अनाद्यनन्त उत्कर्ष है वह क्या सनिमित्त अर्थात् सप्रमाण है

या कि निर्निमित्त-निष्प्रमाण-प्रमाणरहित है 'उत्तर'-(तस्य शास्त्रं निमित्तम्) उसका शास्त्र-वेद प्रमाण है कारण कि वेद में उसके गुण आदि का वर्णन है (शास्त्रं पुनः किन्निमित्तम) शास्त्र-वेद का निमित्त-प्रमाण क्या है अर्थात् शास्त्र-वेद क्यों प्रमाण हैं(प्रकृष्टसत्त्वनिमित्तम्) प्रकृष्ट सत्त्व ईश्वरीय अत्युच्च-गुणबल उसमें प्रमाण है अर्थात् शास्त्र-वेद प्रमाण इसलिये है कि उसकी रचना अत्युच्चगुणबलस्वरूप ईश्वर से हुई है (एतयोः शास्त्रोत्कर्षयोरीश्वरसत्त्वे वर्त्तमानयोरनादिः सम्बन्धः) इन दोनों शास्त्र-वेद और उत्कर्ष का ईश्वरसत्ता के अन्दर रहते हुए अनादि सम्बन्ध है (एतस्मादेतद् भवति सदैवेश्वरः सदैव मुक्त इति) इससे यह सिद्ध होता है कि वह सदा ही ईश्वर है सदा ही मुक्त है (तच्च तस्यैश्वर्यं साम्यातिशयविनिर्मुक्तम्) और वह उसका ऐश्वर्य-ईश्वरत्व साम्य तथा अतिशयता से रहित है (न तावदैश्वर्यान्तरेण तदतिशय्यते) और न किसी अन्य ऐश्वर्य से अतिक्रान्त किया जा सकता है (यदेवातिशायि स्यात्तदेव तत्स्यात्) जो हो अतिक्रान्त करने वाला हो वही ईश्वरत्व है (तस्माद्यत्र काष्ठाप्राप्तिरैश्वर्यस्य स ईश्वर इति) इससे जहां ऐश्वर्य की काष्ठा प्राप्ति हो वह ईश्वर है (न च तत्समानमैश्वर्यमस्ति) और उसके समान ऐश्वर्य नहीं है (कस्मात्-द्वयोस्तुल्ययोरेकस्मिन्युगपत्कामितेऽर्थे नवमिदमस्तु पुराणमिदमस्त्वित्येकस्य सिद्धावितरस्य प्राकाम्यविघाता-दूनत्वं प्रसक्तम्) कारण कि एक ही अभीष्ट विषय में एक

साथ तुल्य दो वस्तुओं में यह नया है यह पुराना है--यह अच्छा है यह बुरा है इस प्रकार एक की इष्टसिद्धि हो जाने पर दूसरे की अभीष्टता में न्यूनता-कमी आगई (द्वयोश्च तुल्ययोर्युगपत्कामितार्थप्राप्तिर्नास्ति, अर्थस्य विरुद्धत्वात्) और दो तुल्य वस्तुओं में अभीष्टार्थता की प्राप्ति नहीं होती वस्तुओं के भिन्न भिन्न होने से (तस्माद्यस्य साम्यातिशयैर्विनिर्मुक्तमैश्वर्यं स एवेश्वरः) इससे जिसका ऐश्वर्य साम्य-समता-समानता और अतिशयता--अतिक्रान्तता से मुक्त है वह ईश्वर है (स च पुरुषविशेष इति) और वह पुरुषविशेष-विशेष चेतन देव है ॥ २४ ॥

अव०—(किं च-) और भी—

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम् ॥ २५ ॥

सूत्रार्थ—(तत्र) उस ईश्वर में (सर्वज्ञबीजम्) सर्वज्ञबीज (निरतिशयम्) अतुल—अनुपम है।

भाष्यानु—(यदिदमतीतानागतप्रत्युत्पन्नप्रत्येकसमुच्चयातीन्द्रियग्रहणमल्पं बह्विति सर्वज्ञबीजमेतद्विवर्धमानं यत्र निरतिशयं स सर्वज्ञः) जो यह भूत भविष्यत् वर्तमान रूप प्रत्येक या समुचय करके अतीन्द्रिय विषय का ग्रहण करना थोड़ा या बहुत यह समस्त सर्वज्ञ बीज विशेष बढ़ चढ़कर जहां निरतिशय—अतिक्रान्तता से रहित होकर रहे वह सर्वज्ञ है (अस्ति काष्ठाप्राप्तिः सर्वज्ञबीजस्य सातिशयत्वात् परिमाणवदिति) है अति सीमा प्राप्ति सर्वज्ञ बीज [illegible] सातिशयता

के कारण से परिमाण की भांति 'जैसे अणुपरिमाण और महत्परिमाण की अति सीमा है—अणुपरिमाण की अति सीमा तो परमाणुतक और महत्परिमाण की अति सीमा आकाश तक होती है इससे आगे परिमाण की अणुता और महत्ता नहीं है इसी प्रकार सर्वज्ञ बीज की भी सीमा है (यत्र काष्ठा प्राप्तिर्ज्ञानस्य स सर्वज्ञः) जहां अतिसीमा प्राप्ति ज्ञान की हो उसे सर्वज्ञ कहते हैं 'इस प्रकार सर्वज्ञ बीज की जहां अतिशयता न हो' वह ईश्वर है (स च पुरुषविशेष इति) वह पुरुष विशेष ही हो सकता है (सामान्यमात्रोपसंहारे च कृतोपक्षय-मनुमानं न विशेषप्रतिपत्तौ समर्थमिति) सामान्यमात्र उपसंहार में अनुमानसमाप्त किया हुआ विशेष सिद्धि के निमित्त समर्थ नहीं होता, किन्तु (तस्य संज्ञादिविशेषप्रतिपत्तिराग-मतः ❀ पर्यन्वेष्या) उसकी संज्ञा आदि विशेष-सिद्धि आगम से आगम प्रमाण—वेद से देखनी चाहिये। सो ऐसा पुरुषविशेष ईश्वर के अतिरिक्त अन्य नहीं हो सकता, 'ऋषिमहर्षि ज्ञानवान् और विशेषज्ञानवान हो सकते हैं परन्तु निरतिशय ज्ञानवान् तो केवल ईश्वर ही हो सकता है निरतिशयज्ञान ही सर्वज्ञता है ऐसा सर्वज्ञ ईश्वर है, (तस्यात्मानुग्रहा-

---

❀ अग्निं मित्रं वरुणमाहुः स दिव्यः सुपर्णो गरुत्मान। एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥ प्रजापतिश्चरति गर्भेऽन्तरजायमानो बहुधा विजायते। तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा॥ बृहस्पतिर्मे तद्धातु शन्नोभवतु भुवनस्य यस्पतिः॥

भावेऽपि भूतानुग्रहः प्रयोजनम्) उसका निजलाभ न होने पर भी प्राणियों का अनुग्रह—कृपाभाव प्रयोजन है, कि (ज्ञान-धर्मोपदेशेन कल्पप्रलयमहाप्रलयेषु संसारिणः पुरुषानुद्ध-रिष्यामि) ज्ञानधर्म के उपदेश से कल्प-प्रलय-महाप्रलय में संसारी पुरुषों का उद्धार करूंगा (तथा चोक्तम्—आदि विद्वान् निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद् भगवान् परमर्षिरा-सुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाचेति) ऐसा कहा भी है–आदि विद्वान् संकल्पमय चित्त करके करुणा से भगवान् परमऋषि परमात्मा ने ज्ञान के उत्सुक जीव के लिए वेद शास्त्र का उपदेश दिया ॥ २५ ॥

अव०—(स एषः—) वह यह—

पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥ २६ ॥

सूत्रार्थ:—(कालेन-अनवच्छेदात्) काल द्वारा नष्ट न होने के कारण (पूर्वेषाम्-अपि-गुरुः) पूर्व ऋषि महर्षियों का भी गुरु है ॥

भाष्यानु०—(पूर्वे हि गुरवः कालेनावच्छिद्यन्ते) पुरातन गुरु तो काल से नष्ट हो जाते हैं (यत्रावच्छेदार्थेन कालो नोपावर्तते स एष पूर्वेषामपि गुरुः) जहां नाश के हेतु काल आक्रमण नहीं करता वह यह पुरातन ऋषिमहर्षियों का भी गुरु है (यथाऽस्य सर्गस्यादौ प्रकर्षगत्या सिद्धस्तथाऽतिक्रान्तसर्गादिष्वपि प्रत्येतव्यः) जैसे इस सर्ग के आदि में प्रकर्षगति--गुणबल प्रभाव से सिद्ध है वैसे ही पिछले सर्गादि में भी जानना चाहिए ॥ २६ ॥

तस्य वाचकः प्रणवः ॥ २७ ॥

सूत्रार्थ०—(तस्य) उस ईश्वर का (वाचकः) वाचक अर्थात् यथार्थरूप से बतलाने वाला (प्रणवः) ओ३म् है।

भाष्यानु०—(वाच्य ईश्वरः प्रणवस्य) उस ओ३म् का वाच्य अर्थात् कहा जाने वाला-दर्शाया या समझाया जाने वाला नामी या संज्ञीरूप ईश्वर है। (किमस्य संकेतकृतं वाच्यवाचकत्वमथ प्रदीपप्रकाशवदवस्थितमिति) क्या इसका वाच्य-वाचकत्व संकेतकृत अर्थात् कृत्रिम है या प्रदीपप्रकाश की भांति स्थायी है--नित्य है ? 'उत्तर'--(स्थितोऽस्य वाचकेन सह सम्बन्धः) इस वाच्य--रूप ईश्वर का वाचक रूप ओ३म् के साथ स्थायी—नित्यसम्बन्ध है (यथाऽवस्थितः पितापुत्रयोः सम्बन्धः संकेतेनावद्योत्यते, अयमस्य पिताऽयमस्य पुत्र इति) जैसे पिता पुत्र का स्थित अर्थात् नियत सम्बन्ध संकेत से दर्शाया जाता है कि यह इसका पिता और यह इसका पुत्र है (सर्गान्तरेष्वपि वाच्यवाचकशक्त्यपेक्षस्तथैव संकेतः क्रियते) अन्य सर्गों में भी वाच्य वाचक शक्ति को लक्ष्य करके वैसा ही संकेत किया जाता है (सम्प्रतिपत्तिनित्यतया नित्यः शब्दार्थसम्बन्ध इत्यागमिनः प्रतिजानते) अर्थावगति परम्परा की नित्यता से शब्द—अर्थ—सम्बन्ध नित्य है ऐसा वैदिक जन मानते हैं ॥ २७ ॥

अव०—(विज्ञातवाच्यवाचकत्वस्य योगिनः—) वाच्य-वाचक संबन्ध के ज्ञाता योगी को—

तज्जपस्तदर्थभावनम् ॥ २८ ॥

सूत्रार्थ—(तज्जपः) उस 'ओ३म्' का जप (तदर्थभावनम्) उसके अर्थ का भावन अर्थात् अनुभव करना चाहिए।

भाष्यानु—(प्रणवस्य जपः प्रणवाभिधेयस्य चेश्वरस्य भावनम्) प्रणव अर्थात् 'ओ३म्' का जप और 'ओ३म्' क अभिधेय अर्थात् वाच्यरूप ईश्वर का आन्तरिक अनुभव करना चाहिए (तदस्य योगिनः प्रणवं जपतः प्रणवार्थं च भावयतश्चित्त-मेकाग्रं सम्पद्यते) इस योगी का उस ओ३म् को जपते हुए और उसके अर्थ को अनुभव करते हुए चित्त एकाग्र हो जाता है (तथा चोक्तम्—) ऐसे ही कहा भी है—

(स्वाध्यायाद्योगमासीत योगात्स्वाध्यायमामनेत् ।
स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते ॥ इति)

स्वाध्याय अर्थात् ओ३म् के जप से योग अर्थात् अर्थानुभवरूप ध्यान को प्राप्त हो पुनः अर्थानुभवरूप ध्यान से ओ३म के जप का अभ्यास करे इस प्रकार जपरूप स्वाध्याय और अर्थ-रूप ध्यान से अन्तरात्मा में परमात्मा प्रकाशमान हो जाता है ॥२८॥

अव०—(किं चास्य भवति—) और इसको क्या अनुभव होता है—

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ॥ २९ ॥

सूत्रार्थ—(ततः) तब 'ओ३म्' का अर्थ और उसके अनुभव करने पर' (प्रत्यक्चेतन—अधिगमः) अन्तरात्मा का बोध

(अपि) तथा (अन्तरायाभावश्च) अन्तरायों विघ्नों का अभाव हो जाता है ॥

भाष्यानु०—(ये तावदन्तराया व्याधिप्रभृतयस्ते तावदीश्वर-प्रणिधानान्न भवन्ति) जो हि व्याधि आदि 'आगे कहे जाने वाले' अन्तराय—विघ्न हैं वे ईश्वरप्रणिधान से नहीं होते हैं (स्वरूपदर्शनमप्यस्य भवति) स्वरूपदर्शन भी इसको हो जाता है (यथैवेश्वरः पुरुषः शुद्धः प्रसन्नः केवलोऽनुपसर्गस्तथा-ऽयमपि बुद्धेः प्रतिसंवेदी यः पुरुषस्तमधिगच्छति) जैसे ईश्वर चेतन प्रसन्न केवल निर्विकार है वैसे जो यह बुद्धि का प्रतिसंवेदन कर्ता अर्थात् अनुभव करने वाला आत्मा है उस अपने आत्मरूप का बोध प्राप्त करता है ॥२६॥

अव०—(अथ केऽन्तराया ये चित्तस्य विक्षेपाः के पुनस्ते कियन्तो वेति—) अब कौन अन्तराय हैं जो चित्त को विक्षिप्त करने वाले हैं और कौन कौन तथा कितने हैं "यह कहते हैं"—

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनाल-ब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः ॥३०॥

सूत्रार्थ—(व्याधि···त्वानि) व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व, अनवस्थितत्व, 'ये [illegible] चित्तविक्षेपाः) चित्त को विक्षिप्त करने वाले (ते—अन्तरायाः) वे ये विघ्न हैं।

भाष्यानु०--(नवान्तरायाश्चित्तस्य विक्षेपाः) नौ अन्तराय चित्त के विक्षिप्त करने वाले हैं (सहैते चित्तवृत्तिभिर्भवन्ति) ये चित्तवृत्तियों के साथ होते हैं (एतेषामभावे न भवन्ति पूर्वोक्ताश्चित्तवृत्तयः) इन के अभाव हो जाने पर पूर्वोक्त चित्तवृत्तियां नहीं होती हैं (व्याधिर्धातुरसकरणवैषम्यम) वात—पित्त—कफ रूप धातुओं, खाए पिए आहार के रस और इन्द्रियों की विषमता का नाम व्याधि अर्थात् रोग है (स्त्यानमकर्मण्यता चित्तस्य) चित्त की अकर्मण्यता स्त्यान अर्थात् जी चुराना है (संशय उभयकोटिस्पृग्विज्ञानं स्यादिदमेवं नैवं स्यादिति) दो कोटियों को छूनेवाला—दो ओर जाने वाला—द्विधा ज्ञान कि-यह ऐसा हो सकता है या नहीं हो सकता है संशय है (प्रमादः समाधिसाधनानामभावनम्) समाधि साधनों का सम्पादन न करना प्रमाद है (आलस्यं कायस्य चित्तस्य च गुरुत्वादप्रवृत्तिः) काया और चित्त के भारीपन से अप्रवृति आलस्य है (अविरतिश्चित्तस्य विषयसम्प्रयोगात्मा गर्धः) चित्त का विषयसम्प्रयोगरूप इच्छा अविरति—अविरक्तता है (भ्रान्तिदर्शनं विपर्ययज्ञानम्) विपरीत ज्ञान भ्रान्तिदर्शन है (अलब्धभूमिकत्वं समाधिभूमेरलाभः) समाधि भूमि का लाभ न होना अलब्धभूमिकत्व है (अनवस्थितत्वं यल्लब्धायां भूमौ चित्तस्याप्रतिष्ठा) प्राप्त भूमि में चित्त का न लगना अनवस्थितत्व है (समाधिप्रतिलम्भे हि सति तदवस्थितं स्यादिति) समाधिलाभ हो जाने पर चित्त स्थित हो जाता है (एते चित्तविक्षेपा नव योगमला योगप्रतिपक्षा योगान्त-

राया इत्यभिधीयन्ते) ये चित्त को विक्षिप्त करने वाले नौ योग के मल योग के विरोधी योग के विघ्न कहे जाते हैं ॥३०॥

दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः ॥३१॥

सूत्रार्थ—(दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासाः) दुःख, दौर्मनस्य अर्थात् मन की विकलता, अङ्गमेजयत्व—अङ्गकम्पन, श्वास, प्रश्वास (विक्षेपसहभुवः) विक्षेपों के साथ हो जाया करते हैं।

भाष्यानु०—(दुःखमाध्यात्मिकमाधिभौतिकमाधिदैविकं च) अध्यात्मिक अधिभौतिक और आधिदैविक, यह तीन प्रकार का दुःख है (येनाभिहताः प्राणिनस्तदुपघाताय प्रयतन्ते तद्दुःखम्) जिससे पीड़ित हुए प्राणी उसके नाश के लिये प्रयत्न करते हैं वह दुःख है (दौर्मनस्यमिच्छाविघाताच्चेतसः क्षोभः) इच्छा के मारे जाने से चित्तका क्षोभ दौर्मनस्य है (यदङ्गान्येजयति कम्पयति तदङ्गमेजयत्वम्) जो अंगों को कम्पाता है, वह अंगमेजयत्व है (प्राणो यद्बाह्यं वायुमाचामति स श्वासः) "हृदयस्थ" प्राण जो बाहर से वायु को लेता है, वह श्वास कहलाता है (यत्कौष्ठ्यं वायुं निःसारयति स प्रश्वासः) जो अन्दर की वायु को निकालता है वह प्रश्वास कहलाता है (एते विक्षेपसहभुवो विक्षिप्तचित्तस्यैते भवन्ति) ये विक्षेपों के साथ होने वाले हैं—विक्षिप्तचित्त के ये होते हैं (समाहितचित्तस्यैते न भवन्ति)

समाहित चित्त वाले के ये नहीं होते ॥३१॥

अव०—(अथैते विक्षेपाः समाधिप्रतिपक्षास्ताभ्यामेवाभ्यास-वैराग्याभ्यां निरोद्धव्याः, तत्राभ्यासस्य विषयमुपसंहरन्निद-माह-) अब ये विक्षेप समाधि के विरोधी उन्हीं अभ्यास और वैराग्य द्वारा निरोध करने योग्य हैं उनमें से अभ्यास के विषय का उपसंहार करते हुए सूत्रकार यह कहता है—

तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः ॥३२॥

सूत्रार्थ—(तत्प्रतिषेधार्थम्) उन विक्षेपों के हटाने के लिये (एकतत्त्वाभ्यासः) एक तत्त्व का अभ्यास करना चाहिये ।

भाष्यानु०—(विक्षेपप्रतिषेधार्थमेकतत्त्वावलम्बनं चित्तम-भ्यसेत्) विक्षेपों के हटाने के लिये एक तत्त्व--ईश्वरचिन्तन के अवलम्बन का अभ्यास करे (यस्य तु प्रत्यर्थनियतं प्रत्ययमात्रं क्षणिकं च चित्तं तस्य सर्वमेव चित्तमेकाग्रं नास्त्येव विक्षिप्तम्) जिसके मत में तो वस्तु वस्तु के प्रति नियत प्रतीतिमात्र और क्षणिक चित्त है उसके मत में सब चित्त एकाग्र है विक्षिप्त नहीं (यदि पुनरिदं सर्वतः प्रत्याहृत्यैकस्मिन्नर्थे समाधीयते तदा भवत्येकाग्रमित्यतो न प्रत्यर्थनियतम्) यदि तो सब जगह से खींचकर एक वस्तु में समाहित किया जावे तब वह एकाग्र होना बनता है अतः वस्तु वस्तु के प्रति नियत चित्त नहीं है (योऽपि सदृशप्रत्ययप्रवाहेण चित्तमेकाग्रं मन्यते तस्यैकाग्रता यदि प्रवाहचित्तस्य धर्मस्तदैकं नास्ति प्रवाहचित्तस्य क्षणिकत्वात्) और जो क्षणिकवादी सदृश प्रतीति के प्रवाह से चित्त को

एकाग्र मानता है 'जैसे–प्रथम वस्तु के चित्त ने एक लाल रंग की वस्तु को देखा पुनः दूसरी वस्तु के चित्त में पूर्व लाल रंग की प्रतीति का प्रवाह आ गया इससे वह दूसरी वस्तु का चित्त एकाग्र हो गया तो उसकी एकाग्रता यदि प्रवाह–चित्त का धर्म है तो प्रवाहचित्त के क्षणिक होने से भी वह पहिला और पिछला प्रवाहचित्त एक नहीं है, 'अतः एकाग्रता का व्यवहार यथार्थ नहीं बनता' (अथ प्रवाहांशस्यैव प्रत्ययस्य धर्मः स सदृशप्रत्ययप्रवाही वा विसदृशप्रत्ययप्रवाही वा प्रत्यर्थनियतत्वादेकाग्र एवेति विक्षिप्तचित्तानुपपत्तिः) और यदि प्रतीति के प्रवाहांश का ही धर्म एकाग्रता हो तब तो वह सदृश प्रतीति का प्रवाही हो या विसदृश--विभिन्न प्रतीति का प्रवाही हो वस्तु वस्तु में अलग अलग नियत होनेसे एकाग्र ही हुआ विक्षिप्त चित्त होना न बन सका (तस्मादेकमनेकार्थमवस्थितं चित्तमिति) इससे अनेक वस्तुओं में रहने वाला एक नियत--अक्षणिक चित्त है (यदि च चित्तेनैकेनानन्विताः स्वभावभिन्नाः प्रत्यया जायेरन्नथ कथमन्यप्रत्ययदृष्टस्यान्यः स्मर्ता भवेत्) और यदि एक चित्त से सम्बन्ध न रखकर भिन्न भिन्न स्वभाववाले प्रतीतिरूप ज्ञान हुआ करें तो अन्य प्रतीतिज्ञान के देखे का अन्य प्रतीतिज्ञान स्मरण करने वाला कैसे हो सके? (अन्यप्रत्ययोपचितस्य च कर्माशयस्यान्यः प्रत्यय उपभोक्ता भवेत्) यह भी एक आपत्ति क्षणिक वाद में खड़ी हो जावे कि अन्य प्रतीतिज्ञान से प्राप्त कर्मसंस्थान का अन्य प्रतीतिज्ञान

भोगने वाला बन जावे (कथंचित्समाधीयमानमप्येतद् गोमयपाय-सीयन्यायमाक्षिपति) किसी प्रकार समाधान का यत्न करे भी तो वह एक गोमयपायसीयन्याय जैसी अयुक्त बात है 'गोमय अर्थात् गोबर और पायस अर्थात् दूध की बनी वस्तु इन दोनों को गौ से उत्पन्न होने के कारण गव्य कहे जाने से समानता देना अनुचित है' (किञ्च स्वात्मानुभवापह्नवश्चित्तस्यान्यत्वे प्राप्नोति) और भी दोष यह है कि अपने आत्मा का अनुभव भी झूठ पड़ता है वस्तु वस्तु में अलग अलग चित्त होने से (कथम्) कैसे 'उत्तर'--(यदहमद्राक्षं तत्स्पृशामि यच्चास्प्राक्षं तत्पश्यामीति, अहमिति प्रत्ययः सर्वस्य प्रत्ययस्य भेदे सति प्रत्ययिन्यभेदेनो-पस्थितः) जिसको मैंने देखा उसे मैं छूता हूँ और जिसे मैंने छुआ उसे मैं देखता हूँ, इस प्रकार 'अहम्—मैं' यह प्रत्यय-प्रतीतिज्ञान सब प्रतीतिज्ञान के भिन्न भिन्न होने पर भी प्रत्ययी प्रतीति करने वाले 'अहम्—मैं' में अभेद रूप से रहता है (एकप्रत्ययविषयोऽयमभेदात्माहमिति प्रत्ययः कथमत्यन्त-भिन्नेषु चित्तेषु वर्त्तमानः सामान्यमेकं प्रत्ययिनमाश्रयेत्) एक प्रत्ययविषयक यह 'मैं' रूप प्रत्यय अर्थात् ज्ञानभान कैसे अत्यन्त भिन्न चित्तों में होकर सामान्य एक प्रत्ययी—ज्ञानभान करनेवाले 'मैं' का आश्रय ले सके (स्वानुभवग्राह्यश्चायमभेदा-त्माऽहमिति प्रत्ययः) और यह 'मैं' अभेदात्मा निज अनुभव-ग्राह्य है (न च प्रत्यक्षस्य माहात्म्यं प्रमाणान्तरेणाभिभूयते) और प्रत्यक्ष का महत्त्व दूसरे प्रमाण से दबाया नहीं जासकता

(प्रमाणान्तरं च प्रत्यक्षबलेनैव व्यवहारं लभते) अन्य प्रमाण भी प्रत्यक्ष के बल से ही व्यवहार को प्राप्त करता है (तस्मादेकमनेकार्थमवस्थितं च चित्तम्) इस से अनेक वस्तुओं में रहने वाला एक अक्षणिक नियत चित्त है ॥३२॥

अव०—(यस्य चित्तस्यावस्थितस्येदं शास्त्रेण परिकर्म निर्दिश्यते तत्कथम्) जिस अक्षणिक चित्त का यह शास्त्र से परिकर्म-क्रियाकलाप निर्दिष्ट किया जाता है वह कैसे—

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां, सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् ॥३३॥

सूत्रार्थ—(सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणाम्) सुख-दुःख-पुण्य-पाप सम्बन्ध वाले अर्थात् सुखी, दुःखी, पुण्यवान्, पापी-जनों के प्रति (मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणाम्) मित्रता, दया, प्रसन्नता, उपेक्षा की (भावनातः) भावना करने से (चित्तप्रसादनम्) चित्त की प्रसन्नता स्वच्छता–स्वस्थता–स्थिरता होती है।

भाष्यानु०—(तत्र सर्वप्राणिषु सुखसम्भोगापन्नेषु मैत्रीं भावयेत्) सुखसम्भोगपूर्ण समस्त प्राणियों में मित्रता करे। (दुःखितेषु करुणाम्) दुःखितों में दया करे (पुण्यात्मकेषु मुदिताम्) पुण्यात्माओं में हर्ष भावना करे (अपुण्यशीलेषूपेक्षाम्) अपुण्यशीलों में उपेक्षा करे (एवमस्य भावयतः शुक्लो धर्म उपजायते) इस प्रकार भावना करते हुए इस ऐसे मनुष्य के अन्दर निर्मल धर्म का उदय हो जाता है (ततश्च चित्तं

प्रसीदति) पुनः चित्त प्रसन्न हो जाता है-निर्मल बन जाता है (प्रसन्नमेकाग्रं स्थितिपदं लभते) प्रसन्न-निर्मल हुआ चित्त स्थितिपद को प्राप्त करता है ॥३३॥

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य ॥३४॥

सूत्रार्थ—(वा) या (प्राणस्य) प्राण के (प्रच्छर्दनविधारणाभ्याम्) प्रच्छर्दन-वमन जैसे बाहिर वेग से फेंकने और विधारण-विशेष धारण करने रोकने 'प्राणायाम करने' से मन निर्मल एवं स्थिर होता है।

भाष्यानु०—(कौष्ठयस्य वायोर्नासिकापुटाभ्यां प्रयत्नविशेषाद्वमनं प्रच्छर्दनम्) कोष्ठ के-अन्दर के वायु को दोनों नासिका-छिद्रों द्वारा प्रयत्नविशेष से वमन करना प्रच्छर्दन है (विधारणं प्राणायामः) प्राणायाम को विधारण कहते हैं (ताभ्यां वा मनसः स्थितिं सम्पादयेत्) अथवा उन दोनों के द्वारा भी मन की स्थिरता बनावे ॥३४॥

विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धिनी ॥३५॥

सूत्रार्थ—(वा) या (विषयवती-उत्पन्ना प्रवृत्तिः) विषय-वाली उत्पन्न प्रवृत्ति (मनसः स्थितिनिबन्धिनी) मन की स्थिरता का निबन्धन करने वाली है।

भाष्यानु०—(नासिकाग्रे धारयतोऽस्य या दिव्यगन्धसंवित् सा गन्धप्रवृत्तिः) नासिकाग्र पर धारणा करने वाले योगी की जो दिव्यगन्ध की अनुभूति है वह गन्धप्रवृत्ति है (जिह्वाग्रे रस-

संवित्) जिह्वाग्र पर धारणाकरने वाले की जो दिव्य रस की अनुभूति है वह रसप्रवृत्ति है (तालुनि रूपसंवित्) तालु में धारणा करने वाले योगी की जो दिव्य मनोहर रूप की अनुभूति है वह रूपप्रवृत्ति है (जिह्वामध्ये स्पर्शसंवित्) जिह्वामध्य में धारणा करने वाले योगी की जो दिव्य स्पर्श की अनुभूति है वह स्पर्शप्रवृति है (जिह्वामूले शब्दसंवित्-इति) जिह्वामूल में धारणा करने वाले योगी की जो दिव्य शब्द की अनुभूति है वह शब्दप्रवृत्ति है (एता वृत्तय उत्पन्नाश्चित्त स्थितौ निबध्नन्ति संशयं विधमन्ति समाधिप्रज्ञायां च द्वारीभवन्तीति) ये प्रकट हुई प्रवृत्तियां चित्त को स्थिरता में नियुक्त करती हैं संशय को हटाती हैं समाधिप्रज्ञा में द्वार हो जाती हैं (एतेन चन्द्रादित्यग्रहमणिप्रदीपरश्म्यादिषु प्रवृत्तिरुत्पन्ना विषयवत्येव वेदितव्या) इससे चन्द्र, सूर्य, ग्रह, मणि, प्रदीप, रश्मि आदि में भी उत्पन्न हुई ज्योतिः प्रवृत्ति विषयवती ही जाननी चाहिये (यद्यपि हि तत्तच्छास्त्रानुमानाचार्योपदेशैरवगतमर्थतत्त्वं सद्भूतमेव भवति यथाभूतार्थप्रतिपादनसामर्थ्यात्) यद्यपि उस उस शास्त्र अनुमान से और आचार्य के उपदेश से वस्तुरूप जाना हुआ यथार्थ ही होता है वस्तु के यथावत् स्वरूप के प्रतिपादन का उन में सामर्थ्य होने से (तथापि यावदेकदेशोऽपि कश्चिन्न स्वकरणसंवेद्यो भवति तावत्सर्वं परोक्षमिवापवर्गादिषु सूक्ष्मेष्वर्थेषु न दृढां बुद्धिमुत्पादयति) तो भी जब तक कोई एक भाग भी अपने प्रत्यक्ष नहीं हो जाता तब तक सब परोक्ष जैसा

ही होता है मोक्ष आदि सूक्ष्मविषयों में दृढ बुद्धि को उत्पन्न नहीं करता (तस्माच्छास्त्रानुमानाचार्योपदेशोपोद्बलनार्थमेवावश्यं कश्चिदर्थविशेषः प्रत्यक्षी कर्तव्यः) इस लिये शास्त्र, अनुमान और आचार्य के उपदेश को सार्थक करने के लिये अवश्य ही कोई विषयविशेष प्रत्यक्ष करना चाहिये (तत्र तदुपदिष्टार्थैक-देशप्रत्यक्षत्वे सति सर्वं सूक्ष्मविषयमपि—आऽपवर्गाच्छ्रद्धीयते) तब उसके उपदिष्ट एक भाग के प्रत्यक्ष हो जाने पर सब सूक्ष्म विषय भी मोक्ष तक श्रद्धा करने योग्य हो जाता है (एतदर्थमेवेदं चित्तपरिकर्म निर्दिश्यते) इसी लिये यह चित्त का उपयोज्य व्यवहार निर्दिष्ट किया जाता है (अनियतासु वृत्तिषु तद्विषयायां वशीकारसंज्ञायां समर्थं स्यात् तस्य तस्यार्थस्य प्रत्यक्षीकरणायेति) बहुविध वृत्तियों में उन उन के सम्बन्ध की स्वायत्त अनुभूति प्राप्त हो जाने पर चित्त उस उस अर्थ के प्रत्यक्ष करने के लिये समर्थ हो जाता है (तथा च सति श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधयोऽस्या-प्रतिबन्धेन भविष्यन्तीति) वैसा होने पर श्रद्धा, बल, स्मृति और समाधि इस योगी की बिना रुकावट के होंगी ॥३५॥

विशोका वा ज्योतिष्मती ॥३६॥

सूत्रार्थ—(वा) या (विशोका) शोकरहित—वासनारहित—सन्तुष्टरूपा (ज्योतिष्मती) प्रभावती प्रवृत्ति 'मन की स्थिति को बान्धनेवाली—स्थापन करने वाली हो जाती है'।

भाष्यानु०—(प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धिनीत्यनु-वर्तते) पूर्वसूत्र से "प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धिनी"

अर्थात् प्रवृत्ति उत्पन्न हुई मन की स्थिति की बान्धने वाली है यह आ रहा है (हृदयपुण्डरीके धारयतो या बुद्धिसंवित्, बुद्धि-सत्त्वं हि भास्वरमाकाशकल्पं तत्र स्थितिवैशारद्यात्प्रवृत्तिः सूर्येन्दुग्रहमणिकल्पप्रभारूपाकारेण विकल्पते) हृदयकमल में धारणा करते हुए की जो बुद्धिप्रतीति—बुद्धि वस्तु है वह प्रकाशमान आकाश के समान है, वहां मन की स्थिति के पक्व हो जाने से प्रवृति सूर्य चन्द्र ग्रह मणि की भांति प्रभारूपाकार-वाली कही जाती है (तथाऽस्मितायां समापन्नं चित्तं निस्तरङ्ग-महोदधिकल्पं शान्तमनन्तमस्मितामात्रं भवति) तथा अस्मिता-अस्मि-हूँ मैं ऐसी अपनी आत्मानुभूति में समाहित किया चित्त तरङ्गरहित सागर जैसा शान्त अनन्त अस्मितारूप हो जाता है (यत्रेदमुक्तम्—"तमणुमात्रमात्मानमनुविद्यास्मीत्येवं तावत्स-म्प्रजानीते" इति) जिस विषय में यह कहा है—उस सूक्ष्मरूप 'अपने' आत्मा को अनुभव करके 'हूँ' ऐसा समझता है (एषा द्वयी विशोका—विषयवती, अस्मितामात्रा च प्रवृत्तिर्ज्योतिष्मती-त्युच्यते) यह दो प्रकार की विशोका ज्योतिष्मती प्रवृत्ति हुई—एक विषयवती 'बुद्धिसंवित्' और दूसरी अस्मितामात्रा कही जाती है (यया योगिनश्चित्तं स्थितिपदं लभत इति) जिस से योगी का चित्त स्थितिपद को प्राप्त करता है ॥३६॥

वीतरागविषयं वा चित्तम् ॥३७॥

सूत्रार्थ—(वा) या (वीतरागविषयम्) वीत—विगत अलग हो गया राग विषयों से जिसका अथवा वीत—विगत अलग

हो गया रागरूप विषय जिसका ऐसा (चित्तम्) चित्त स्थिर हो जाता है।

भाष्यानु०—(वीतरागचित्तालम्बनोपरक्तं वा योगिनश्चित्तं स्थितिपदं लभत इति) या राग से रहित चित्त के आलम्बन में संलग्न योगी का चित्त स्थितिपद को प्राप्त करता है ॥३७॥

स्वप्ननिद्राज्ञानावलम्बनं वा ॥३८॥

सूत्रार्थ—(वा) अथवा (स्वप्ननिद्राज्ञानावलम्बनम्) स्वप्न-ज्ञान और निद्राज्ञान का आलम्बन जिस चित्त में हो वह स्थिर हो जाता है।

आशय—मन में सोने या गहरी नींद में जाने के जैसा अनु-भव एवं भान करना भी मन की स्थिरता का कारण है। मनुष्य किसी अल्प सहारे कुर्सी या आरामकुर्सी अथवा अन्य साधन के सहारे बैठकर समस्त शरीर को ढीला करके अपने को सोया हुआ या गहरी नींद में गया हुआ जैसा अनुभव करे वैसे ही श्वास ले ऐसा करने से मन स्थिर हो जाता है केवल मन ही स्थिर नहीं हो जाता किन्तु शरीर का थकान दूर हो जाता है, मस्तकशूल शान्त हो जाता है और चिन्ता भी दूर हो जाती है एवं मन स्थिर हो जाता है।

भाष्यानु०—(स्वप्नज्ञानालम्बनं वा निद्राज्ञानालम्बनं वा तदाकारं योगिनश्चित्तं स्थितिपदं लभत इति) स्वप्नज्ञान—सोए हुए जैसा भान का सहारा या निद्राज्ञान—गहरी नींद में गये

भान का सहारा लें वैसे आकार में सोया नींद में गया जैसा योगी का चित्त स्थितिपद को प्राप्त करता है ॥३८॥

यथाभिमतध्यानाद्वा ॥३९॥

सूत्रार्थ-(वा) या (यथाभिमतध्यानात्) यथाभिमत-इच्छा के अनुसार ध्यान करने से भी चित्त स्थिर हो जाता है।

भाष्यानु०—(यदेवाभिमतं तदेव ध्यायेत्) जो ही अभिमत अभिप्रेत—अभीष्ट हो उसी का ध्यान करे (तत्र लब्धस्थितिकमन्यत्रापि स्थितिपदं लभत इति) वहां 'अभिप्रेत—अभीष्ट वस्तु में' स्थितिपद प्राप्त किया हुआ चित्त अन्यत्र भी स्थितिपद प्राप्त कर लेता है।

विशेष—इस सूत्र में मन की स्थिरता के लिये सब से निकृष्ट वर्णन है यदि इतना मन निर्बल अथवा समल या चञ्चल है कि अन्य उच्च अभ्यास पर न लगे तो जिस पर भी लग सके स्थिर हो सके उसी वस्तु पर मन को स्थिर करने का अभ्यास करे कारण कि मन को स्थिर करना अवश्य है। जिस भी अभीष्ट वस्तु पर मन स्थिर हो गया वह ही मन की स्थिरता का लक्ष्य नहीं किन्तु यह तो निर्बल पक्ष है या मन की स्थिरता करने का आपद्धर्म है। व्यास के शब्दों से भी यह बात स्पष्ट हो रही है "तत्र लब्धस्थितिकमन्यत्रापि स्थितिपदं लभते" अर्थात् वहां स्थिति प्राप्त कर लेने पर अन्यत्र भी स्थिति प्राप्त कर सकता है। अत एव मन को यथावत् स्थिर बनाने आदर्श

योगमार्ग पर चलाने के लिये उच्च अभ्यास में डालना चाहिए। इस सूत्र में अत्यन्त निकृष्ट अभ्यास बताया गया है इससे आगे अभ्यास बढ़ाते बढ़ाते ऊंचे अभ्यास पर मन को ले जाना चाहिये वह कहां तक सो अगले सूत्र में कहा गया है ॥३९॥

परमाणुपरममहत्वान्तोऽस्य वशीकारः ॥४०॥

सूत्रार्थः—(अस्य) इस चित्त का (वशीकारः) वशीकार—नियन्त्रण-स्थिरभाव-स्थिर करना (परमाणुपरममहत्वान्तः) परमाणु और परममहत्व पर्यन्त होता है।

भाष्यानु०—(सूक्ष्मे निविशमानस्य परमाण्वन्तं स्थितिपदं लभत इति) मन के सूक्ष्म में घुसते हुए—स्थिर होते हुए परमाणु तक स्थितपद को प्राप्त कर सकता है (स्थूले निविशमानस्य परममहत्वान्तं स्थितिपदं चित्तस्य) स्थूल--महान् में घुसते हुए-स्थिर होते हुए परममहत्व-अतिमहान्-जिससे महान् कोई न हो ऐसे पदार्थ आकाश तक में स्थितिपद को प्राप्त करता है (एवं तामुभयीं कोटिमनुधावतो योऽस्याप्रतिघातः स परो वशीकारः) इस प्रकार उस द्विविध कोटि का अभ्यास करते हुए उसका जो अबाधित वशीकार है वह उत्कृष्ट है ऊंचा है श्रेष्ठ है (तद्वशीकारात्परिपूर्णं योगिनिश्चत्तं न पुनरभ्यासकृतं परिकर्मापेक्षत इति) उस वशीकार या उस अभ्यास से परिपूर्ण—परिपक्व या सिद्ध हुआ योगी का चित्त फिर अभ्यासकृत कर्मकलाप-उपाय की अपेक्षा नहीं करता ॥४०॥

अव०—(अथ लब्धस्थितिकस्य चेतसः किंस्वरूपा किंविषया वा समापत्तिरिति तदुच्यते) अब स्थिरताप्राप्त किए हुए चित्त की समापत्ति—सम्प्रज्ञात समाधि किसस्वभाववाली या किसविषयवाली होती है यह कहा जाता है—

क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थ-तदञ्जनता समापत्तिः ॥४१॥

सूत्रार्थ—(अभिजातस्येव मणेः क्षीणवृत्तेः) शुद्ध स्फटिक मणि की भांति क्षीणवृत्ति अर्थात् वृत्तिरहित निर्मल चित्त का (ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु) ग्रहीता-ग्रहण-ग्राह्य अर्थात् आत्मा-इन्द्रिय-विषयों में (तत्स्थतदञ्जनता) उस उसमें रहने वाली उस उस धर्मयुक्त (समापत्तिः) सम्प्रज्ञात समाधि होती है।

भाष्यानु०-(क्षीणवृत्तेरिति प्रत्यस्तमितप्रत्ययस्येत्यर्थः) क्षीणवृत्ति अर्थात् घटपटादि प्रतीतियां अस्त हुए चित्त की (अभिजातस्येव मणेरिति दृष्टान्तोपादानम्) अभिजात मणि—निर्मल स्फटिक मणि यह दृष्टान्त लिया गया है (यथा स्फटिक उपाश्रयभेदात्तत्तद्रूपोपरक्त उपाश्रयरूपाकारेण निर्भासते) जैसे स्फटिक मणि समीपी साथ लगी वस्तु के भेद से वैसे वैसे उपराग रंग रूप को ले समीपी वस्तु के आकार से भासित होती है उसी प्रकार ग्राह्य अर्थात् ग्रहण किये जाने वाले गन्धादि विषयों के आलम्बन से लगाव रखता हुआ चित्त ग्राह्य के साथ मिला हुआ एकता को प्राप्त हुआ हुआ ग्राह्यरूप के जैसा

भासित होता है (भूतसूक्ष्मोपरक्तं भूतसूक्ष्मसमापन्नं भूतसूक्ष्म-
स्वरूपाभासं भवति) सूक्ष्म भूत में उपराग को प्राप्त हुआ सूक्ष्म
भूत में एकता प्राप्त किया हुआ चित्त सूक्ष्मभूत के स्वरूप जैसा
भासित होता है (तथा स्थूलालम्बनोपरक्तं स्थूलरूपसमापन्नं
स्थूलरूपाभासं भवति) उसी प्रकार स्थूल आलम्बन से उपराग
को प्राप्त हुआ हुआ स्थूल में एकता प्राप्त किया हुआ चित्त
स्थूलरूप जैसा भासित होता है (तथा विश्वभेदोपरक्तं विश्व-
भेदसमापन्नं विश्वरूपाभासं भवति) उसी प्रकार विश्वभेद
के उपराग को प्राप्त हुआ हुआ विश्वभेद से एकता प्राप्त किया
हुआ चित्त विश्वरूप जैसा भासित होता है (तथा-ग्रहणेष्वपी-
न्द्रियेष्वपि द्रष्टव्यम्) इसी प्रकार ग्रहणों-इन्द्रियों में भी
जानना चाहिये (ग्रहणालम्बनोपरक्तं ग्रहणसमापन्नं ग्रहण-
स्वरूपाकारेण निर्भासते) ग्रहण आलम्बन से उपराग को प्राप्त
हुआ हुआ ग्रहण से एकता प्राप्त किया हुआ चित्त ग्रहणस्वरूप
जैसा भासित होता है (तथा ग्रहीतृपुरुषालम्बनोपरक्तं ग्रहीतृ-
पुरुषसमापन्नं ग्रहीतृपुरुषस्वरूपाकारेण निर्भासते) इसी प्रकार
ग्रहीता आत्मा के आलम्बन से उपराग को प्राप्त हुआ हुआ
ग्रहीता आत्मा से एकता प्राप्त किया हुआ चित्त ग्रहीता आत्मा के
जैसा भासित होता है (तथा मुक्तपुरुषालम्बनोपरक्तं मुक्तपुरुष-
समापन्नं मुक्तपुरुषस्वरूपाकारेण निर्भासते इति) इसी प्रकार
मुक्त आत्मा के आलम्बन से उपराग को प्राप्त हुआ हुआ मुक्त
आत्मा से एकता प्राप्त किया हुआ चित्त मुक्त आत्मा जैसा

भासित होता है (तदेवमभिजातमणिकल्पस्य चेतसो ग्रहीतृग्रहण-ग्राह्येषु पुरुषेन्द्रियभूतेषु या तत्स्थतदञ्जनता तेषु स्थितस्य तदाकारापत्तिः सा समापत्तिरित्युच्यते) वह इस प्रकार निर्मल मणि जैसे चित्त की ग्रहीता ग्रहण ग्राह्य अर्थात् आत्मा इन्द्रिय भूत विषय में जो स्थित हुए चित्त की तद्रूपता है वह समापत्ति समाधि कहलाती है ॥४१॥

तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः॥४२॥

सूत्रार्थ०—(तत्र) समापत्ति में (शब्दार्थज्ञानविकल्पैः) शब्द, अर्थ, ज्ञान के रूपों से (संकीर्णा) मिली हुई (समापत्तिः) समाधि (सवितर्का) सवितर्का कहलाती है।

भाष्यानु०—(तद्यथा गौरिति शब्दो गौरित्यर्थो गौरिति ज्ञानमित्यविभागेन विभक्तानामपि ग्रहणं दृष्टम्) जैसा कि गौ शब्द है 'ध्वनिरूप होने से 'गौ' अर्थ है वस्तुरूप होने से और 'गौ ज्ञान है' ध्वनि और वस्तु से भिन्न बुद्धि में जो दूध देने वाली व्यक्तिविशेष सम्बन्धी भासनारूप या भावनारूप है' इन तीनों विभक्त अलग अलग हुओं का भी अविभाग से या अभेद से ग्रहण देखा जाता है (विभज्यमानाश्चान्ये शब्दधर्मा अन्येऽर्थधर्मा अन्ये विज्ञानधर्मा इत्येतेषां विभक्तः पन्थाः) विभक्त होते हुओं के शब्दधर्म और हैं अर्थधर्म और हैं तथा विज्ञानधर्म और हैं एवं इनका मार्ग अलग अलग है (तत्र समापन्नस्य योगिनो यो गवाद्यर्थः समाधिप्रज्ञायां समारूढः स चेच्छब्दार्थज्ञानविकल्पानुविद्ध उपावर्त्तते सा संकीर्णा समापत्तिः सवितर्के-

स्तुच्यते) समापत्ति—समाधि को प्राप्त हुए योगी का जो गौ आदि विषय समाधिप्रज्ञा में आरूढ है वह यदि शब्द, अर्थ, ज्ञान के प्रकारों से मिला हुआ प्रकट हो तो वह संकीर्ण मिली जुली समापत्ति अर्थात् समाधि सवितर्का कहलाती है ॥ ४२ ॥

अव०—(यदा पुनः शब्दसंकेतस्मृतिपरिशुद्धौ श्रुतानुमान-ज्ञानविकल्पशून्यायां समाधिप्रज्ञायां स्वरूपमात्रेणावस्थितो-ऽर्थस्तत्स्वरूपाकारमात्रतयैवावच्छिद्यते सा च निर्वितर्का समा-पत्तिः) जब कि शब्द संकेत और स्मृति की परिशुद्धि अर्थात् न होने पर न शब्दसंकेत रहे और न स्मृति रहे इस प्रकार श्रुत-ज्ञान और अनुमानज्ञान के भेदों से शून्य समाधिप्रज्ञा में स्वरूप-मात्र से उपस्थित वस्तु केवल निजरूपाकार से सम्मुख होता है वह निर्वितर्का समापत्ति है (तत्परं प्रत्यक्षम्) वह ऊंचा प्रत्यक्ष है (तच्च श्रुतानुमानयोर्बीजम्) वह श्रुत और अनुमान का बीज है (ततःश्रुतानुमाने प्रभवतः) उससे श्रुत-शास्त्र और अनुमान प्रकट होते हैं (न च श्रुतानुमानज्ञानसहभूतं तद्दर्शनम्) और श्रुतज्ञान तथा अनुमानज्ञान के साथ उसका दर्शन—साक्षात्कार नहीं होता (तस्मादसंकीर्णं प्रमाणान्तरेण योगिनो निर्वितर्कसमाधिजं दर्शनमिति) अतः दूसरे प्रमाणों से न मिला हुआ योगी का निर्वितर्कसमाधि से हुआ दर्शन है (निर्वितर्कायाः समापत्ते-रस्याः सूत्रेण लक्षणं द्योत्यते) इस निर्वितर्का समापत्ति का सूत्र से लक्षण दिखलाया जाता है —

स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का ॥४३॥

सूत्रार्थ—(स्मृतिपरिशुद्धौ) शब्द, अर्थ, ज्ञान के भेदों की स्मृति से रहित (स्वरूपशून्या-इव) स्वरूपशून्य जैसी (अर्थमात्रनिर्भासा) अर्थमात्र का भान जिसमें हो ऐसी (निर्वितर्का) निर्वितर्का समापत्ति कहलाती है।

भाष्यानु०-(या शब्दसंकेतश्रुतानुमानज्ञानविकल्पस्मृतिपरिशुद्धौ ग्राह्यस्वरूपोरक्ता प्रज्ञा स्वमिव प्रज्ञास्वरूपं ग्रहणात्मकं त्यक्त्वा पदार्थमात्रस्वरूपा ग्राह्यस्वरूपापन्नेव भवति सा तदा निर्वितर्का समापत्तिः) जो शब्दसंकेत-श्रुतज्ञान-अनुमानज्ञान के भेदों की स्मृति से रहित ग्राह्यस्वरूप में लगाव रखती हुई प्रज्ञा अपने ग्रहणात्मक प्रज्ञास्वरूप को छोड़कर वस्तुमात्रस्वरूपवाली अर्थात् ग्राह्यस्वरूप को धारण की हुई होती है वह तब निर्वितर्का समापत्ति है (तथा च व्याख्यातम्-तस्या एकबुद्ध्युपक्रमो ह्यर्थात्माऽणुप्रचयविशेषात्मा गवादिर्घटादि र्वा लोकः) वैसे व्याख्यात भी है—उस व्यक्ति का एक बुद्धि से उपयोग में आने वाला वस्तुरूप अणुओं का संघातविशेषस्वरूपवाला गौ आदि घट आदि पदार्थ है (स च संस्थानविशेषो भूतसूक्ष्माणां साधारणो धर्म आत्मभूतः फलेन व्यक्तेनानुमितः स्वव्यञ्जकाञ्जनः प्रादुर्भवति) और वह पिण्डविशेष सूक्ष्मभूतों का साधारणधर्म निजस्वरूपवाला व्यक्तफल से अनुभव किया गया अपने कारण से व्यक्तीभाव को प्राप्त होने वाला प्रकट होता है (धर्मान्तरस्य कपालादे-

रुदये च तिरो भवति) दूसरे धर्म कपाल आदि के उदय होने अर्थात् टुकड़े टुकड़े या चूरा चूरा हो जाने पर 'घड़ा' छिप जाता है (स एष धर्मोऽवयवीत्युच्यते). वह धर्म अवयवी कहलाता है (योऽसावेकश्च महांश्चाणीयांश्च स्पर्शवांश्च क्रिया-धर्मकश्चानित्यश्च तेनावयविना व्यवहाराः क्रियन्ते) जो वह एक है महान् भी है सूक्ष्म भी है स्पर्शवान् भी है क्रियागुण वाला भी है और अनित्य है उस अवयवी से व्यवहार किए जाते हैं।

(यस्य पुनरवस्तुकः स प्रचयविशेषः सूक्ष्मं च कारणमनुप-लभ्यमविकल्पस्य तस्यावयव्यभावादतद्रूपप्रतिष्ठं मिथ्याज्ञानमिति प्रायेण सर्वमेव प्राप्तं मिथ्याज्ञानमिति) जिस के मत में वह पिण्ड विशेष अवयवी वस्तु ही नहीं तब उसके मत में कारण सूक्ष्म अनुपलभ्य है ऐसे उस व्यक्तीभाव से रहित के अवयवी होने के अभाव से चित्त का विषय हो सामने आना अतद्रूपप्र-तिष्ठ अर्थात् मिथ्याज्ञान होगा अतः यह सब मिथ्याज्ञान है (तदा च सम्यग्ज्ञानमपि किं स्याद्विषयाभावात्) फिर सम्यक् ज्ञान भी क्या हो सके विषय के अभाव से (यद्यदुपलभ्यते तत्तदवयवित्वेनाम्नातम्) जो जो पदार्थ पाया जाता है वह वह अवयवी रूप से कहा गया है (तस्मादस्त्यवयवी यो मह-त्त्वादिव्यवहारापन्नः समापत्तेर्निर्वितर्काया विषयी भवति) अतः अवयवी है जो महत्त्व आदि महान् स्पर्शवान् आदि व्यवहारयुक्त निर्वितर्का समाधि का विषय बनता है ॥४३॥

एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता ॥४४॥

सूत्रार्थ—(एतया-एव) इस ही सवितर्का निर्वितर्का समापत्तिद्वारा (सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया) सविचार और निर्विचार सूक्ष्मविषयवाली समापत्ति (व्याख्याता) व्याख्यात समझनी चाहिये।

भाष्यानु०—(तत्र भूतसूक्ष्मकेष्वभिव्यक्तधर्मकेषु देशकालनिमित्तानुभवावच्छिन्नेषु या समापत्तिः सा सविचारेत्युच्यते) इन सविचार और निर्विचार में जो देश अर्थात् स्थान जहां बैठकर गन्ध आदि ग्रहण कर रहे हों, काल-जिस समय ग्रहण कर रहे हों, निमित्त-जिस वस्तु के द्वारा गन्ध आदि ले रहे हों, उन तीनों के अनुभव से संवन्धित प्रकट धर्म 'चन्दन' केला, गुलाब आदि में सूक्ष्मभूतों अर्थात् गन्धतन्मात्रा आदि में समापत्ति है वह सविचार कही जाती है (तत्राप्येकबुद्धिनिर्ग्राह्यमेवोदितधर्मविशिष्टं भूतसूक्ष्ममालम्बनी भूतं समाधिप्रज्ञायामुपतिष्ठते) उस परभी वह एक बुद्धि से पकड़ी जाने वालीअर्थात् किसीवस्तु द्वारा यदि गन्धतन्मात्रा का अभ्यास हो तो उसके रस, रूप आदि में मन न रहे केवल गन्ध को पकड़े,एवं रसतन्मात्राभ्यास में रसमें ही मन रहे इत्यादि वर्त्तमान धर्म चन्दन, केला, गुलाव आदि संवन्धी गन्धतन्मात्रा आदि सूक्ष्मभूत आलम्बन हुआ हुआ समाधिप्रज्ञा में उपस्थित रहे

(या पुनः सर्वथा सर्वतः शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानवच्छिन्नेषु सर्वधर्मात्मकेषु समापत्तिः सा निर्विचारेत्युच्यते) जो तो फिर सब प्रकार से सब ओर से अतीत वर्तमान भविष्यत् धर्मों से संबन्ध रखते हुए सब धर्मों का अनुसरण करने वाले सर्व धर्मस्वरूप वाले सूक्ष्मभूतों गन्धतन्मात्रादि में समापत्ति होती है वह निर्विचार कहलाती है (एवं स्वरूपं हि भूतसूक्ष्ममेतेनैव स्वरूपेणावलम्बनी भूतेन समाधिप्रज्ञास्वरूपमुपरञ्जयति) ऐसा स्वरूप वाला सूक्ष्मभूत गन्धतन्मात्रा आदि इस ही स्वरूप से आलम्बन में आया हुआ समाधिप्रज्ञा के स्वरूप को उपरागयुक्त अर्थात् तन्मय कर देता है (प्रज्ञा च स्वरूपशून्येवार्थमात्रा यदा भवति तदा निर्विचारेत्युच्यते) और प्रज्ञा स्वरूपशून्य जैसी वस्तुरूप जब हो जाती है तब निर्विचार समापत्ति कही जाती है (तत्र महद्वस्तुविषया सवितर्का निर्वितर्का च सूक्ष्मवस्तुविषया सविचारा निर्विचारा च) उनमें स्थूल वस्तु को विषय बनानेवाली सवितर्का और निर्वितर्का तथा सूक्ष्म वस्तु को विषय बनाने वाली सविचारा और निर्विचारा समापत्ति होती है (एवमुभयोरेतयैव निर्वितर्कया विकल्पहानिर्व्याख्यातेति) इस प्रकार इस निर्वितर्काद्वारा दोनों 'निर्वितर्का और निर्विचारा' में विकल्प अर्थात् विवेचन की अभावता कही गई है ॥४४॥

सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम् ॥४५॥

सूत्रार्थ—(च) और (सूक्ष्मविषयत्वम्) सूक्ष्मविषयता (अलिङ्गपर्यवसानम्) अलिङ्ग अर्थात् प्रकृति तक है।

भाष्यानु०—(पार्थिवस्याणोर्गन्धतन्मात्रं सूक्ष्मो विषयः) पृथिवी के अणु की गन्धतन्मात्रा सूक्ष्मविषय है (आप्यस्य रसतन्मात्रम्) जल की रसतन्मात्रा (तैजसस्य रूपतन्मात्रम्) अग्नि की रूपतन्मात्रा (वायवीयस्य स्पर्शतन्मात्रम्) वायु की स्पर्शतन्मात्रा (आकाशस्य शब्दतन्मात्रमिति) आकाश की शब्दतन्मात्रा सूक्ष्म विषय है (तेषामहङ्कारः) उन का सूक्ष्म विषय अहङ्कार (अस्यापिलिङ्गमात्रं सूक्ष्मो विषयः) इसका भी लिङ्गमात्र अर्थात् महत्तत्त्व सूक्ष्म विषय है (लिङ्गमात्रस्यालिङ्गं सूक्ष्मविषयः) लिङ्गमात्र का भी अलिङ्ग अर्थात् प्रकृति सूक्ष्म विषय है (न चालिङ्गात्परं सूक्ष्ममस्ति) और अलिङ्ग से परे सूक्ष्म नहीं है (नन्वस्ति पुरुषः सूक्ष्म इति) क्योंजी पुरुष अर्थात् परमात्मा प्रकृति से सूक्ष्म है (सत्यम्) ठीक है, परमात्मा प्रकृति से सूक्ष्म है परन्तु (यथा लिङ्गात्परमलिङ्गस्य सौक्ष्म्यं न चैवं पुरुषस्य) जैसे महत्तत्त्व से परे प्रकृति की सूक्ष्मता है ऐसे परमात्मा की नहीं (किन्तु लिङ्गस्यान्वयिकारणं पुरुषो न भवति हेतुस्तु भवतीति) किन्तु महत्तत्त्व का अन्वयीकारण अर्थात् सजातीयतारतम्यरूप कारण परमात्मा नहीं होता है हेतु अर्थात् उसे सूक्ष्म बनाने वाला तो होता है (अत प्रधाने सौक्ष्म्यं निरतिशयं व्याख्यातम्) अतः प्रकृति में निरतिशय—अतुल सूक्ष्मता कही गई है ॥ ४५ ॥

ता एव सबीजः समाधिः ॥ ४६ ॥

सूत्रार्थ—(ताः—एव) वे सवितर्क आदि ही (सबीजः समाधिः) सबीज समाधि है ।

भाष्यानु०—(ताश्चतस्रः समाधयो बहिर्वस्तुबीजा इति समाधिरपि सबीजः) वे चार समाधियां बाह्यवस्तु बीजवाली अर्थात् बाह्यवस्तु के आधारवाली हैं अतः समाधि भी सबीज है (तत्र स्थूलेऽर्थे सवितर्को निर्वितर्कः सूक्ष्मेऽर्थे सविचारो निर्विचार इति चतुर्धोपसंख्यातः समाधिरिति) उनमें स्थूल वस्तु में सवितर्क निर्वितर्क और सूक्ष्म वस्तु में सविचार निर्विचार है ऐसे चार प्रकार से समाधि की गणना हुई ॥ ४६ ॥

निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः ॥ ४७ ॥

सूत्रार्थ—(निर्विचारवैशारद्ये) निर्विचार के परिपक्व एवं निर्मल रूप हो जाने पर (अध्यात्मप्रसादः) आन्तरिक प्रसाद या भीतरी स्थिरता का विकास हो जाता है।

भाष्यानु०—(अशुद्ध्यावरणमलापेतस्य प्रकाशात्मनो बुद्धिसत्त्वस्य रजस्तमोभ्यामनभिभूतः स्वच्छः स्थितिप्रवाहो वैशारद्यम्) अशुद्धि आवरणरूप मल से रहित प्रकाशस्वरूप बुद्धिसत्त्व—अन्तःकरण का रजोगुण तमोगुण से अबाधित स्वच्छ स्थितिप्रवाह वैशारद्य कहलाता है (यदा निर्विचारस्य समाधेर्वैशारद्यमिदं जायते तदा योगिनो भवत्यध्यात्मप्रसादो भूतार्थविषयः क्रमाननुरोधी स्फुटः प्रज्ञालोकः । तथा चोक्तम्—) जब निर्विचार समाधि का यह परिपक्व निर्मलरूप प्रकट होजाता है तब योगी को अध्यात्मप्रसाद वर्त्तमान वस्तुविषयक क्रम को न बाधता हुआ प्रज्ञालोक अर्थात् बुद्धिप्रकाश प्रकट हो जाता है,

ऐसा कहा भी है—

प्रज्ञाप्रसादमारुह्य अशोच्यः शोचतो जनान्।
भूमिष्ठानिव शैलस्थः सर्वान् प्राज्ञोऽनुपश्यति ॥

अर्थात् बुद्धि विकास को प्राप्त होकर अशोच्य—शोचनीय विषयों से रहित हुआ योगी शोचते हुए जनों को पर्वत पर स्थित हुआ जैसे नीचे भूमि वालों को देखता है ऐसा वह प्राज्ञ देखता है ॥ ४७॥

ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा ॥ ४८ ॥

सूत्रार्थ—(तत्र) उस समय (प्रज्ञा) अभ्यासी की प्रज्ञा (ऋतम्भरा) ऋत अर्थात् सत्य को धारण किए हुए होजाती है।

भाष्यानु०—(तस्मिन्समाहितचित्तस्य या प्रज्ञा जायते तस्य ऋतम्भरेति संज्ञा भवति) उस समय समाहित चित्तवाले योगी की जो प्रज्ञा प्रकट होती है उसकी 'ऋतम्भरा' यह संज्ञा होती है (अन्वर्था च सा सत्यमेव बिभर्ति न च तत्र विपर्यासगन्धोऽप्यस्तीति तथा चोक्तम्--) और वह अर्थानुसार है सत्य को ही धारण करती है उसमें मिथ्यापन की गन्ध भी नहीं होती ऐसा कहा भी है—

आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासरसेन च ।
त्रिधा प्रकल्पयन् प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम् ॥ इति

अर्थात् आगम--श्रवण, अनुमान--मनन और ध्यानाभ्यास-रस--निदिध्यासनद्वारा प्रज्ञा को त्रिविध समर्थ एवं परिष्कृत बनाता हुआ उत्तम योग प्राप्त करता है ॥ ४८ ॥

अव०—(सा पुनः) वह फिर—

श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात् ॥ ४६ ॥

सूत्रार्थ—(श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्याम्) श्रुतप्रज्ञा और अनुमान-प्रज्ञा से (अन्यविषया) अन्यविषयवाली प्रज्ञा है (विशेषार्थत्वात्) विशेषार्थता के कारण।

भाष्यानु०—(श्रुतमागमविज्ञानं तत्सामान्यविषयम्) श्रुत अर्थात् आगमविज्ञान 'शब्दज्ञान--शास्त्रज्ञान' वह सामान्य विषयवाला होता है (न ह्यागमेन शक्यो विशेषोऽभिधातुं-कस्मात्, न हि विशेषेण कृतसंकेतः शब्द इति) आगम से विशेष कहा नहीं जा सकता क्योंकि शब्द विशेषरूप से संकेत में लाया हुआ नहीं होता (तथानुमानं सामान्यविषयमेव) इसी प्रकार अनुमान भी सामान्यविषयवाला ही है (यत्र प्राप्तिस्तत्र गतिर्यत्राप्राप्तिस्तत्र न भवति गतिरित्युक्तम्) जहां प्रप्ति 'स्थानान्तरप्राप्ति' वहां गति है जहां अप्राप्ति 'स्थानान्तरप्राप्ति नहीं' वहां गति नहीं होती है ऐसा कहा है (अनुमानेन च सामान्येनोपसंहारः) और अनुमान से सामान्य धर्मद्वारा उपसंहार होता है (तस्माच्छ्रुतानुमानविषयो न विशेषः कश्चिदस्तीति) इस से श्रुतविषय और अनुमानविषय कोई विशेष नहीं है (न चास्य सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टस्य वस्तुनो लोकप्रत्यक्षेण ग्रहणमस्ति) और न इस सूक्ष्म–छिपी हुई दूर वस्तु का लोकप्रत्यक्ष से ग्रहण होता है (न चास्या-प्रमाणकस्याभावोऽस्तीति समाधिप्रज्ञानिर्ग्राह्य एव स विशेषो

भवति भूतसूक्ष्मगतो वा पुरुषगतो वा) और न इस प्रमाण 'लोकप्रमाण' से ग्रहण न किये जाने वाले का अभाव है, समाधिप्रज्ञा से वह विशेष निश्चित ग्राह्य है या सूक्ष्मभूतों में या आत्मा में प्राप्त होता है (तस्माच्छ्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया सा प्रज्ञा विशेषार्थत्वादिति) इससे श्रुतप्रज्ञा अनुमानप्रज्ञा से अन्यविषयवाली वह प्रज्ञा है विशेषार्थवाली होने से ॥ ४९ ॥

अव०—(समाधिप्रज्ञाप्रतिलम्भे योगिनः प्रज्ञाकृतः संस्कारो नवो नवो जायते–) समाधिप्रज्ञा के प्राप्त होने पर योगी का प्रज्ञाकृत संस्कार नया नया होता है—

तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी ॥ ५० ॥

सूत्रार्थ—(तज्जः संस्कारः) उस से उत्पन्न संस्कार (अन्यसंस्कारप्रतिबन्धी) अन्य संस्कारों का रोधक—दबाने वाला होता है ।

भाष्यानु०—(समाधिप्रज्ञाप्रभवः संस्कारो व्युत्थानसंस्काराशयं बाधते) समाधिप्रज्ञा से उत्पन्न संस्कार व्युत्थानसंस्कारों के प्रभाव एवं आवासस्थान को बाधित करता है–दबाता–है विनष्ट करता है (व्युत्थानसंस्काराभिभवात्तत्प्रभवाः प्रत्यया न भवन्ति) व्युथानसंस्कारों के दब जाने–विनष्ट हो जाने से उन से उत्पन्न होने वाली प्रतीतियां-ज्ञान भान नहीं होते (प्रत्ययनिरोधे समाधिरुपतिष्ठते) प्रत्ययों—प्रतीतियों—ज्ञानभानों के निरोध हो जाने पर समाधि बन जाती है (ततः समाधिजा

प्रज्ञा) तब समाधि से उत्पन्न प्रज्ञा होती है (ततः प्रज्ञाकृताः संस्कारा इति नवो नवो संस्काराशयो जायते) पुनः प्रज्ञाकृत संस्कार, इस क्रम से नया नया संस्कारों का प्रभाव एवं आवास उत्पन्न होता है (ततश्च प्रज्ञा ततश्च संस्कारा इति) उससे प्रज्ञा और उस से संस्कार उत्पन्न होते हैं (कथमसौ संस्कारातिशयश्चित्तं साधिकारं न करिष्यतीति) वह संस्कारों का आधिक्य चित्त को प्रवृत्तिके सम्मुख गुणाधिकारवाला क्यों नहीं करेगा ? (न ते प्रज्ञाकृताः संस्काराः क्लेशक्षयहेतुत्वाच्चित्तमधिकारविशिष्टं कुर्वन्ति) वे प्रज्ञाकृत संस्कार अविद्या आदि क्लेशों के क्षय के हेतु होने से चित्त को अधिकारयुक्त नहीं करते (चित्तं हि ते स्वकार्यादवसादयन्ति) वे चित्त को स्वकार्य से—उसके कार्य से अलग करते हैं (ख्यातिपर्यवसानं चित्तचेष्टितम्) विवेकख्याति तक ही चित्त का व्यापार है ॥५०॥

अव०— (किं चास्य भवति-) और क्या इसका होता है—

तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः ॥५१॥

सूत्रार्थ—(तस्यापि निरोधे) उसके भी निरोध में (सर्वनिरोधात्) सर्वनिरोध से (निर्बीजः समाधिः) निर्बीज समाधि होती है ।

भाष्यानु०—(स न केवलं समाधिप्रज्ञाविरोधी प्रज्ञाकृतानामपि संस्काराणां प्रतिबन्धी भवति) वह न केवल समाधिप्रज्ञा का विरोधी किन्तु प्रज्ञाकृत संस्कारों का भी निरोधक होता है (कस्मात्, निरोधजः संस्कारः समाधिजान् संस्कारान्

वाधत इति) कारण कि निरोध से उत्पन्न हुआ संस्कार समाधि से उत्पन्न हुए संस्कारों को दवाता है। नष्ट करता है (निरोधस्थितिकालक्रमानुभवेन निरोधचित्तकृतसंस्कारास्तित्व-मनुमेयम्) निरोधावस्था के कालक्रम के अनुभव से निरोध-चित्तकृत संस्कारों का अस्तित्व अनुमान में आने वाला होता है (व्युत्थाननिरोधसमाधिप्रभवैः सह कैवल्यभागीयैः संस्कारैश्चित्तं स्वस्यां प्रकृताववस्थितायां प्रविलीयते) कैवल्यभागीय अर्थात् सर्वनिरोध समाधिवाले संस्कारों के द्वारा व्युत्थानसम्बन्धी और सम्प्रज्ञातसमाधिसम्बन्धी संस्कारों के साथ चित्त अपनी प्रकृति में लीन हो जाता है (तस्मात्ते संस्काराश्चित्तस्या-धिकारविरोधिनो स्थितिहेतवो भवन्तीति) इस से वे संस्कार चित्त के गुणाधिकार विरोधी—प्रवृत्तिपथ के विरोधी होते हुए स्थितिहेतु—चित्त की वर्तमानता के हेतु नहीं होते (यस्मादव-सिताधिकारं सह कैवल्यभागीयैः संस्कारैश्चित्तं निवर्तते तस्मि-न्निवृत्ते पुरुषः स्वरूपमात्रप्रतिष्ठोऽतः शुद्धः केवलो मुक्त इत्यु-च्यत इति) कारण कि कैवल्यभागीय—सर्वनिरोधसमाधि-वाले संस्कारों के द्वारा समाप्ताधिकार अर्थात् समाप्तप्रवृत्तिपथ अपने प्रवृत्ति रूपसार्ग से निवृत्त हो जाता है उस के निवृत्त हो जाने पर आत्मा स्वरूपमात्रस्थितिवाला हो जाता है अतः वह 'उस समय' शुद्ध केवल मुक्त है ऐसा कहा जाता है ॥५१॥

प्रथमः पादः समाप्तः

द्वितीय पाद

अवतरण—(उद्दिष्टः समाहितचित्तस्य योगः कथं व्युत्थित-चित्तोऽपि योगयुक्तः स्यादित्येतदारभ्यते) समाहितचित्त अर्थात् स्थिरचित्तवाले का योग कह दिया गया, व्युत्थितचित्तवाला अर्थात् अस्थिर चित्त वाला भी कैसे योग में प्रविष्ट हो सके यह आरम्भ किया जाता है—

तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः ॥१॥

सूत्रार्थ—(तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि) तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान (क्रियायोगः) क्रियारूप योग है दैनिक सेवन करनेयोग्य योगव्यवहार है।

भाष्यानु०—(नातपस्विनो योगः सिद्ध्यति) अतपस्वी जन का योग सिद्ध नहीं होता (अनादिकर्मक्लेशवासनाचित्रा प्रत्युपस्थितविषयजाला चाशुद्धिर्नान्तरेण तपः संभेदमापद्यत इति तपस उपादानम्) अनादि क्लेश कर्म-वासना रूप चित्रों वाली और वर्तमानविषयजालवाली मलिनता विना तप के छूट नहीं सकती अतः तप शब्द सूत्र में ग्रहण किया है (तच्च चित्तप्रसादनमबाधमानमनेनासेव्यमिति मन्यते) और वह चित्त को निर्मल करने वाला हो बाधा पीड़ा-व्याधि करने

वाला न हो उसे सेवन करना चाहिए ऐसा माना जाता है। (स्वाध्यायः प्रणवादिपवित्राणां जपो मोक्षशास्त्राध्ययनं वा) प्रणव अर्थात् ओ३म् आदि पवित्रकारक वचनों मन्त्रों का जप तथा मोक्षशास्त्रों का पढ़ना स्वाध्याय है (ईश्वरप्रणिधानं सर्वक्रियाणां परमगुरावर्पणं तत्फलसंन्यासो वा) ईश्वरप्रणिधान सब क्रियाओं का परम गुरु परमात्मा में अर्पण तथा उनके फल में अस्पृहा ॥१॥

अव०—(स हि क्रियायोगः) वह क्रियारूपयोग—

समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च ॥२॥

सूत्रार्थ—(समाधिभावनार्थः) समाधिसम्पादनार्थ (च) और (क्लेशतनूकरणार्थः) अविद्या आदि क्लेशों को क्षीण करने के लिए है।

भाष्यानु०—(स ह्यासेव्यमानः समाधिं भावयति क्लेशांश्च प्रतनू करोति) वह सेवन किया हुआ 'क्रियायोग' समाधि को सिद्ध कराता है और क्लेशों 'अविद्या आदि पांच क्लेशों' को सूक्ष्म करता है (प्रतनूकृतान् क्लेशान् प्रसंख्यानाग्निना दग्ध-बीजकल्पानप्रसवधर्मिणः करिष्यतीति) सूक्ष्म किये हुए क्लेशों को विवेक-अग्नि के द्वारा जले हुए बीजों के समान न उगने-धर्मवाले कर देगा (तेषां तनूकरणात् पुनः क्लेशैरपरामृष्टा सत्त्व-पुरुषान्यतामात्रख्यातिः सूक्ष्मा प्रज्ञा समाप्ताधिकारा प्रतिप्रस-वाय कल्पिष्यत इति) उनके सूक्ष्म करने से फिर क्लेशों से

सम्पर्क न रखते हुए चित्तसत्त्व और आत्मा की भिन्नता का ज्ञान करानेवाली सूक्ष्मप्रज्ञा समाप्तगुणाधिकारवाली हो उन्हें प्रतिविलय कराने के लिये—स्वकारण में लीन कराने के लिये समर्थ हो सकेगी ॥२॥

अव०—(अथ के क्लेशाः कियन्तो वेति—) अब क्लेश कौन और कितने हैं 'ये देखें' —

अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः ॥३॥

सूत्रार्थ—(अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः) अविद्या अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश (क्लेशाः) क्लेश हैं।

भाष्यानु०—(क्लेशा इति पञ्च विपर्यया इत्यर्थः) क्लेश अर्थात् पांच विपर्यय-मिथ्याज्ञान हैं (ते स्पन्दमाना गुणाधिकारं द्रढयन्ति परिणाममवस्थापयन्ति कार्यकारणस्रोतः-उन्नमयन्ति परस्परानुग्रहतन्त्री भूत्वा कर्मविपाकं चाभिनिर्हरन्तीति) वे वर्तमान हुए गुणाधिकार को दृढ़ करते हैं कार्यकारणस्रोत को उद्घाटित करते हैं परस्पर सहयोगानुसारी हो कर्मफल को प्रकट करते हैं ॥३॥

अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् ॥४॥

सूत्रार्थ—(अविद्या क्षेत्रम्) अविद्या खेत है-उपजस्थल है (उत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्) अगले अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेशरूप' प्रसुप्त-तनु-विच्छिन्न-उदार हुए क्लेशों का ॥

भाष्यानु०—(अत्राविद्या क्षेत्रं प्रसवभूमिरुत्तरेषामस्मिता-

दीनां चतुर्विधविकल्पानां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्) इन पांचो में अविद्या प्रसवभूमि है अगले अस्मिता आदि चार प्रकार के भेदोंवाले प्रसुप्त-तनु-विच्छिन्न-उदार रूपवालों की (तत्र का प्रसुप्तिः) उनमें प्रसुप्ति क्या है—(चेतसि शक्तिमात्रप्रतिष्ठानां बीजभावोपगमः) मन में शक्तिमात्रप्रतिष्ठावालों का बीजभाव से उपस्थित रहना (तस्य प्रबोध आलम्बने सम्मुखीभावः) उसका प्रबोध अर्थात् जागना है विषय के आलम्बन में सम्मुखीभाव-सम्मुख होना-झुकना (प्रसंख्यानवतो दग्धबीजक्लेशस्य सम्मुखीभूतेऽप्यालम्बने नासौ पुनरस्ति दग्धबीजभावस्य कुतः प्ररोह इति) विवेकवाले योगी के प्रति जिसने क्लेशों के बीज जला दिए हैं विषय के सम्मुख होने पर भी वे नहीं हैं, कारण कि दग्धबीज हुए क्लेश कैसे उग सकते हैं (अतः क्षीणक्लेशः कुशलश्चरमदेह इत्युच्यते) अतः क्षीणक्लेश वाला योगी कुशल स्वस्थ चरमदेह—अन्तिम देहवाला मोक्ष का अधिकारी कहा जाता है (तत्रैव सा दग्धबीजभावा पंचमी क्लेशावस्था नान्यत्रेति) उसी देह में वह दग्धबीजभाववाली पांचवीं क्लेशावस्था वर्तमान 'जन्मरूपी' है अन्यत्र नहीं (सतां क्लेशानां तदा बीजसामर्थ्यं दग्धमिति विषयस्य सम्मुखीभावेऽपि सति न भवत्येषां प्रबोध इत्युक्ता प्रसुप्तिर्दग्धबीजभावानामप्ररोहश्च) उन क्लेशों का तब बीजसामर्थ्य जला दिया गया है अतः विषय के सम्मुखीभाव होने पर भी इनका जागृतभाव नहीं होता इस

प्रकार प्रसुप्ति और दग्धबीजभावों का अप्ररोह अर्थात् न उगना कह दिया (तनुत्वमुच्यते प्रतिपक्षभावनोपहताः क्लेशास्तनवो भवन्ति) अब तनुत्व कहते हैं प्रतिपक्षभावना से आघातमात्र क्लेश तनु अर्थात् सूक्ष्म हो जाते हैं (तथा-विच्छिद्य विच्छिद्य तेनात्मना पुनः पुनः समुदाचरन्तीति विच्छिन्नाः) तथा रुक रुक कर उस उस रूप से पुनः पुनः उदय होते हैं वे क्लेश विच्छिन्न हैं (कथम्—रागकाले क्रोधादर्शनात्) कैसे ? रागकाल में क्रोध न दीखने से (न हि रागकाले क्रोधः समुदाचरति) रागकाल में क्रोध उठता नहीं है (रागश्च क्वचिद् दृश्यमानो न विषयान्तरे नास्ति) और राग कहीं दिखलाई पड़ता हुआ दूसरे विषय में नहीं है ऐसा नहीं (नैकस्यां स्त्रियां चैत्रो रक्त इत्यन्यासु स्त्रीषु विरक्तः, किन्तु तत्र रागो लब्धवृत्तिरन्यत्र तु भविष्यद्वृत्तिरिति) एक स्त्री में चैत्र मनुष्य रक्त है अन्य स्त्रियों में विरक्त है ऐसा नहीं किन्तु वहां राग लब्धवृत्ति अर्थात् प्राप्त व्यवहार—वर्त्तमान प्रवृत्ति वाला है अन्यत्र भविष्यद्वृत्ति अर्थात् होनेवालीप्रवृत्तिवाला है (स हि तदा प्रसुप्ततनुविच्छिन्नो भवति) वह फिर उस समय प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न रूप से होता है (विषये यो लब्धवृत्तिः स उदारः) विषय में जो प्राप्तप्रवृत्ति वाला है वह उदार है (सर्व एवैते क्लेशविषयत्वं नातिक्रामन्ति) सब ही ये क्लेशविषयता को अतिक्रमण नहीं करते हैं निःसन्देह बीजभाव तक में भी क्लेश रूप है (कस्तर्हि विच्छिन्नः प्रसुप्तस्तनुरुदारो वा ? क्लेश इति)

कौन है विच्छिन्न प्रसुप्त तनु या उदार, क्लेश है ? (उच्यते—सत्यमेवैतत् किन्तु विशिष्टानामेवैतेषां विच्छिन्नादित्वम्) उत्तर—हां यह सत्य ही है किन्तु इन क्लेशों के विशिष्टरूपों का विच्छिन्न आदि होना है (यथैव प्रतिपक्षभावनातो निवृत्तस्तथैव स्वव्यंजकांजनेनाभिव्यक्त इति) जैसे ही प्रतिपक्षभावना से निवृत्त होता है वैसे ही स्वव्यंजक-अपने प्रकटीकारक साधन के अभिव्यक्त होने से अभिव्यक्त होता है (सर्व एवामी क्लेशा अविद्याभेदाः) सारे ही ये क्लेश अविद्या के भेद हैं (कस्मात् सर्वेष्वविद्यैवभिप्लवते) क्योंकि सभी में अविद्या ही अभिभूत रहती है—भासित होती है (यदविद्यया वस्त्वाकार्यते तदेवानुशेरते क्लेशा विपर्यासप्रत्ययकाले उपलभ्यन्ते क्षीयमाणां चाविद्यामनुक्षीयन्त इति) जो वस्तु अविद्या से प्रतिभासित होती है उस ही की ओर अन्य अस्मिता आदि क्लेश भी प्रवृत्त होते हैं क्योंकि विपर्यासप्रत्ययकाल अर्थात् मिथ्याज्ञान के समय में ये सब उपलब्ध होते हैं और अविद्या के क्षीण होने के साथ ही क्षीण हो जाते हैं ॥४॥

अव०—(तत्राविद्यास्वरूपमुच्यते) उनमें—उनमें से अविद्या का स्वरूप कहा जाता है—

अनित्याशुचिदुःखानात्मसुनित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ॥ ५ ॥

सूत्रार्थ—(अनित्याशुचिदुःखानात्मसु) अनित्य, अशुचि, दुःख, अनात्म में (नित्यशुचिसुखात्मख्यातिः अविद्या) क्रमशः नित्य-शुचि-सुख-आत्मदृष्टि होना अविद्या है।

भाष्यानु०—(अनित्ये कार्ये नित्यख्यातिः) अनित्य अर्थात् कार्य में नित्यदृष्टि होना (तद्यथा ध्रुवा पृथिवी ध्रुवा सचन्द्रतारका द्यौः, अमृता दिवौकस इति) जैसे पृथिवी नित्य है चन्द्र-तारासहित आकाश नित्य है, देव नित्य हैं (तथाऽशुचौ परमबीभत्से काये—) अपवित्र में पवित्र दृष्टि जैसा कि अत्यन्त घृणित काया में—

स्थानाद्बीजादुपष्टम्भान्निःस्यन्दान्निधनादपि ।
कायमाधेयशौचत्वात्पण्डिता ह्यशुचिं विदुः ॥

अर्थात् स्थान से मूत्रादि लिप्त योनि एवं गर्भाशय से, 'उत्पन्न होने से' बीज से—स्त्री पुरुष के रज वीर्य रूप से, उपष्टम्भ से मल आदि के भण्डार एवं मांस आदि के पिण्ड से, निःस्यन्द से—नेत्र नासिका मुख आदि द्वारा द्रव—मल-स्राव से, निधन से—शव मुरदा हो जाने से, शुद्धि की हर समय आवश्यकता रखने से देह को विद्वान् जन अपवित्र समझते हैं।

(इति-अशुचौ शुचिख्यातिर्दृश्यते) इस प्रकार अपवित्र देह में पवित्र प्रतीति दीखती है कि—(नवेव शशाङ्कलेखा कमनीयेयं कन्या मध्वमृतावयवनिर्मितेव चन्द्रं भित्त्वा निःसृतेव ज्ञायते) नूतन चन्द्रकला की भांति प्यारी यह कन्या मधु अमृत के भागों से बनी हुई चन्द्रमा को फोड़कर निकली जैसी जान पड़ती है (नीलोत्पलपत्रायताक्षी हावगर्भाभ्यां लोचनाभ्यां जीवलोकमाश्वासयन्तीवेति कस्य केनाभिसम्बन्धः) नीलोत्पल

नील कमल के पुष्पपत्र जैसे नेत्रोंवाली हावभाव भरे नेत्रों द्वारा मनुष्यवर्ग को जीवन देती हुई सी हैं किस भाग्यशाली पुरुष का किस निमित्त कर्मादि से सम्बन्ध हो सके (भवति चैवमशुचौ शुचिविपर्यासप्रत्यय इति) इस प्रकार अपवित्र देह में विपरीत भान ज्ञान होता है (एतेनापुण्ये पुण्यप्रत्ययस्तथैवानर्थे चार्थप्रत्ययो व्याख्यातः) इससे अपुण्य में पुण्य भान तथा अयोग्य में योग्यरूप प्रतीति होती है।

(तथा दुःखे सुखख्यातिं वक्ष्यति—"परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः" इति तत्र सुखख्यातिरविद्या) तथा दुःख में सुखदृष्टि—"परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः" इस सूत्र द्वारा दुःख को सूत्रकार पतञ्जलि आगे कहेंगे, उस दुःख में सुखदृष्टि अविद्या जानना (तथाऽनात्मन्यात्मख्याति र्बाह्योपकरणेषु चेतनाचेतनेषु भोगाधिष्ठाने वा शरीरे पुरुषोपकरणे वा मनस्यनात्मन्यात्मख्यातिरिति) तथा अनात्मा में आत्मदृष्टि—पुत्रदारा आदि एवं गौ आदि चेतनों और यान मकान उद्यान आदि अचेतन रूप बाहरी पदार्थों में अपनापन करना या भोगों के आश्रयस्थान शरीर में अथवा आत्मा के साधन रूप मन में आत्मभाव करना अर्थात् शरीर को ही आत्मा समझना या मन को ही आत्मा मान लेना अपने को इनसे अलग अमर आत्मा वस्तु न जानना अविद्या है (तथैतदत्रोक्तम्—"व्यक्तमव्यक्तं वा सत्वमात्मत्वेनाभिप्रतीत्य तस्य सम्पदमनुनन्दत्या-

त्मसम्पदम्मन्वानस्तस्य व्यापदमनु शोचत्यात्मव्यापदं मन्वानः सर्वो ऽ प्रतिबुद्धः" इति) तथा इस विषय में कहा भी है—चेतन अर्थात् पुत्र, दारा, गौ आदि प्राणी और अचेतन अर्थात् घर, खेत, बाग आदि अप्राणी वस्तु को अपना कर इसकी सम्पदा—वृद्धि के साथ अपनी सम्पदा-वृद्धि मानता हुआ आनन्दित होता है और उसकी व्यापदा—पीड़ा या क्षय के साथ अपनी व्यापदा-पीड़ा या क्षय मानता हुआ शोच करता है, वह बेसमझ है (एषा चतुष्पदा भवत्यविद्या मूलमस्य क्लेशसन्तानस्य कर्माशयस्य च सविपाकस्येति) यह अनित्य में नित्य बुद्धि आदि चार पाद वाली अविद्या इस क्लेश परिवार तथा फलसहित कर्म संस्थान का मूल है।

(तस्याश्चामित्रागोष्पदवद्वस्तुसतत्त्वं विज्ञेयम्) उस अविद्या का वस्तुस्वरूप अमित्र और अगोष्पद की भांति जानना चाहिये (यथा नामित्रो मित्राभावो न मित्रमात्रं किन्तु तद्विरुद्धः सपत्नः) जैसे 'अमित्र' न मित्र का अभाव और न मित्र ही किन्तु उसके विरुद्ध शत्रु व्यक्ति है (यथा वाऽगोष्पदं न गोष्पदाभावो न गोष्पदमात्रं किन्तु देश एव ताभ्यामन्य-द्वस्त्वन्तरम्) और जैसे 'अगोष्पद' न गोष्पदाभाव—गौ के पैर के चिह्न का अभाव, न गोष्पद—गौ का पैर ही किन्तु उन दोनों से भिन्न वस्तु रूप देश है जहां कि गौ का पैर भी न रक्खा जाय (एवमविद्या न प्रमाणं न प्रमाणाभावः किन्तु

विद्याविपरीतं ज्ञानान्तरमविद्येति) इसी प्रकार 'अविद्या' न प्रमाण और न प्रमाणाभाव किन्तु विद्या के विपरीत दूसरा ज्ञानभान अविद्या है ॥५॥

दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता ॥६॥

सूत्रार्थ—(दृग्दर्शनशक्त्योः) दृक्शक्ति-द्रष्टृशक्ति-चेतन आत्मा ज्ञाता और दर्शन शक्ति-देखने का साधन बुद्धिशक्ति या चित्त और उसके अधीन समस्त साधन, इन दोनों चेतन शक्ति और जड़शक्ति या आत्मा और अनात्मशक्ति की (एकात्मता-इव) एकरूपता जैसी प्रतीति(अस्मिता)अस्मिता नाम का क्लेश है'अस्मि'का अर्थ है मैं हूँ और मैं का भाव 'अस्मिता' है अर्थात् आत्मा चेतन पदार्थ ही अमर वस्तु "मैं" शब्द का वाच्य है परन्तु आत्मा-चेतन और अनात्म-जड़ वस्तु अर्थात् चित्त-इन्द्रिय-शरीर में अभेद मान कर चित्त-इन्द्रिय-शरीर को आत्मरूप से "मैं" अर्थात् मैं समझता हूँ मैं देखता हूँ मैं सुनता हूँ मैं चलता हूँ मैं सुखी हूँ मैं दुःखी हूँ इत्यादि व्यवहार अस्मिता क्लेश है।

भाष्यानु०—(पुरुषो दृक्शक्ति र्बुद्धिर्दर्शनशक्तिरित्येतयोरे-कस्वरूपापत्तिरिवास्मिता क्लेश उच्यते) पुरुष अर्थात् आत्मा—चेतन पदार्थ दृक्शक्ति—द्रष्टृशक्ति—देखने वाला है—ज्ञाता है, बुद्धि अर्थात् बोध-ज्ञान का साधन दर्शनशक्ति है, इन दोनों की एकरूपावस्था जैसी प्रतीति अस्मिता क्लेश कहा जाता है (भोक्तृभोग्यशक्त्योरत्यन्तविभक्तयोरत्यन्तासंकीर्ण-

योरविभागप्राप्ताविव सत्यां भोगः कल्पते) भोक्तृशक्ति--भोगने वाला पुरुष या चेतन आत्मा और भोग्य शक्ति भोक्ता के अधीन अनात्म या जड़ वस्तु, इन अत्यन्त अलग अलग दोनों वस्तुओं की मिली जुली स्थिति हो जाने पर ही भोग बनता है (स्वरूपप्रतिलम्भे तु तयोः कैवल्यमेव भवति कुतो भोग इति) उनकी स्वरूपप्राप्ति में तो कैवल्य ही हो जाता है फिर कहां भोग? (तथा चोक्तम्—बुद्धितः परं पुरुषमाकार-शीलविद्यादिभिर्विभक्तमपश्यन् कुर्यात्तत्रात्मबुद्धिं मोहेन, इति) वैसा कहा भी है—आकार-स्वरूप-चेतनस्वरूप, शील-अमर नित्य, विद्या-ज्ञान आदि गुणों द्वारा पुरुष अर्थात् आत्मा को बुद्धि से परे विभक्त हुये को न देखता हुआ बुद्धि में आत्म-प्रतीति मोह से करता है ॥६॥

सुखानुशयी रागः ॥७॥

सूत्रार्थ--(सुखानुशयी) सुख के पश्चात् रह जाने वाला संस्कार लगावरूप भाव (रागः) राग है ।

भाष्यानु०—(सुखाभिज्ञस्य सुखानुस्मृतिपूर्वः सुखे तत्साधने वा यो गर्धस्तृष्णा लोभः स राग इति) सुखानुभव करने वाले मनुष्य का सुख के अनुरूप स्मृतिपूर्वक जो सुख में या सुख के साधन में लालसा वासना लोभ है वह राग है ॥७॥

दुःखानुशयी द्वेषः ॥८॥

सूत्रार्थ—(दुःखानुशयी) दुःख के पश्चात् रह जाने वाला संस्कार घृणारूपभाव (द्वेषः) द्वेष है।

*भाष्यानु*०—(दुःखाभिज्ञस्य दुःखानुस्मृतिपूर्वको दुःखे तत्साधने वा यः प्रतिघो मन्युर्जिघांसा क्रोधः स द्वेषः) दुःखानुभव करने वाले मनुष्य का दुःख के अनुरूप स्मृतिपूर्वक दुःख या दुःख के साधन में जो प्रतिघात करने का भाव, विरोध, हननेच्छा या क्रोध है वह द्वेष है ॥८॥

स्वरसवाही विदुषोऽपि तन्वनुबन्धोऽभिनिवेशः ॥९॥

सूत्रार्थ—(विदुषः-अपि) विद्वान् का भी (स्वरसवाही तन्वनुबन्धः) स्वप्रवाह की ओर खींचने वाला जो शरीरानुबन्ध अर्थात् शरीर में रहने का वासनाभाव-शरीर न छोड़ने न मरने का भाव—मरणभयरूपभाव (अभिनिवेशः) अभिनिवेश नाम का क्लेश है।

*भाष्यानु*०—(सर्वस्य प्राणिनः-इयमात्माशीर्नित्या भवति मा न भुवं भूयासमिति) समस्त प्राणी-प्रत्येक प्राणी की यह निजी इच्छा सदा रहती है कि मत न होऊं—होऊं अर्थात् मैं न मरूं किन्तु जीता रहूँ (न चाननुभूतमरणधर्मकस्यैषा भवत्यात्माशीः) जिस ने मरण धर्म का अनुभव न किया हो उसकी यह आत्मेच्छा—निजी इच्छा नहीं होती (एतया च पूर्वजन्मानुभवः प्रतीयते) और इस से पूर्वजन्म का अनुभव प्रतीत होता है (स चायमभिनिवेशः क्लेशः स्वरसवाही कृमेरपि जातमात्रस्य प्रत्यक्षानुमानागमैरसंभावितो मरणत्रास उच्छेददृष्ट्यात्मकः पूर्वजन्मानुभूतं मरणदुःखमनुमापयति) और यह अभिनिवेश क्लेश उत्पन्नमात्र कृमि को भी अपने प्रवाह की ओर खींचने

वाला प्रत्यक्ष अनुमान आगम से ग्रहण न हुआ हुआ नाशरूप पूर्वजन्मानुभूत मरणदुःख का अनुमान कराता है--सिद्ध करता है (यथा चायमत्यन्तमूढेषु दृश्यते क्लेशस्तथा विदुषोऽपि विज्ञात पूर्वापरान्तस्य रूढः) और जैसे यह क्लेश अत्यन्त मूढों में दिखलाई पड़ता है वैसे पूर्वान्त अपरान्त संसार और मोक्ष के ज्ञाता विद्वान् को प्राप्त है (कस्मात्-समाना हि तयोः कुशलाकुशलयोर्मरणदुःखानुभवादियं वासनेति) क्योंकि दोनों विद्वान्-अविद्वान् में मरणदुःखानुभव से यह समान वासना होती है ॥९॥

ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः ॥१०॥

सूत्रार्थ—(ते) वे अविद्यादि क्लेश (सूक्ष्माः) सूक्ष्म हुए (प्रतिप्रसवहेयाः) प्रसव अर्थात् स्वकारण के प्रति-स्वकारण के साथ हेय हैं समाप्त करने योग्य हैं।

भाष्यानु०—(ते पञ्च क्लेशा दग्धबीजकल्पा योगिनश्चरिताधिकारे चेतसि प्रलीने सह तेनैवास्तं गच्छन्ति) वे पांच क्लेश दग्धबीजसदृश हुए योगी के चरिताधिकार समाप्त गुणाधिकारवाले चित्त के लीन हो जाने पर उसी के साथ अस्त हो जाते हैं ॥१०॥

अव०—(स्थितानां तु बीजभावोपगतानाम्—)बीजभाव को प्राप्त होकर वर्तमान हुए क्लेशों की—

ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः ॥११॥

सूत्रार्थः—(तद्वृत्तयः) उनकी वृत्तियां-प्रवृत्तियां-व्यवहार

स्थितियां (ध्यानहेयाः) ध्यान द्वारा हेय हैं—क्षीण करने योग्य हैं।

भाष्यानु०—(क्लेशानां या वृत्तयस्ताः क्रियायोगेन तनूकृताः सत्यः प्रसंख्यानेन ध्यानेन हातव्या यावत्सूक्ष्मीकृता यावद्दग्धबीजकल्पाः) क्लेशों की जो स्थूलवृत्तियां प्रवृत्तियां हैं वे 'पूर्व कहे' क्रियायोग 'तप स्वाध्याय ईश्वरप्रणिधान' से कम की हुई बनाई हुई विवेकध्यान से हातव्य-समाप्त करनी चाहिएं जब तक सूक्ष्म हों दग्धबीजसदृश हो जावें (यथा वस्त्राणां स्थूलो मलः पूर्वं निर्धूयते पश्चात्—यत्नेनोपायेन चापनीयते तथा स्वल्पप्रतिपक्षाः स्थूला वृत्तयः क्लेशानां सूक्ष्मास्तु महाप्रतिपक्षा इति) जैसे वस्त्रों का स्थूल मल पूर्व निकाला जाता है पश्चात् सूक्ष्म मल यत्न और उपाय से दूर किया जाता है उसी प्रकार क्लेशों की स्थूल वृत्तियां थोड़े प्रतिपक्ष से हटने वाली और सूक्ष्मवृत्तियां महाप्रतिपक्ष से हटने वाली होती हैं ॥११॥

क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः॥१२॥

सूत्रार्थः—(दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः) दृष्ट अर्थात्—वर्तमान अदृष्ट अर्थात् अग्रिम जन्म में प्राप्त होने फल देने वाला (कर्माशयः) कर्मसंस्थान या कर्मपुञ्ज (क्लेशमूलः) क्लेशमूलवाला है।

भाष्यानु०—(तत्र पुण्यापुण्यकर्माशयः कामलोभमोहक्रोधभवः) जितना भी कर्माशय—कर्मसंस्थान या कर्मपुञ्ज है

वह चाहे पुण्यरूप हो या पापरूप हो सब काम लोभ मोह क्रोध से उत्पन्न होता है (स दृष्टजन्मवेदनीयश्चादृष्टजन्मवेदनीयश्च) वह दृष्टजन्मवेदनीय–वर्तमान जन्म में फल देने वाला हो या अदृष्टजन्मवेदनीय—भावी जन्म में फल देने वाला हो (तत्र तीव्रसंवेगेन मन्त्रतपःसमाधिभिर्निर्वर्तित ईश्वरदेवतामहर्षिमहानुभावानामाराधनाद्वा यः परिनिष्पन्नः स सद्यः परिपच्यते पुण्यकर्माशय इति) तीव्रसंवेग से मन्त्र तप समाधि के द्वारा सिद्ध किया हुआ या ईश्वर, देवता, महर्षि महानुभावों की आराधना सेवा से निष्पन्न हुआ पुण्यकर्माशय है वह तुरन्त परिपाक को प्राप्त होता है अर्थात् दृष्टजन्मवेदनीय—वर्तमान जन्म में फल देने वाला हो जाता है (तथा तीव्रक्लेशेन भीतव्याधितकृपणेषु विश्वासोपगतेषु वा महानुभावेषु वा तपस्विषु कृतः पुनः पुनरपकारः स चापि पापकर्माशयः सद्य एव परिपच्यते) तथा तीव्र क्लेश अर्थात् घोर अविद्या आदि क्लेश से डरे हुए रुग्ण और दयनीय निःसहाय प्राणी के ऊपर या विश्वास को प्राप्त हुओं के प्रति अथवा तपस्वियों में किया गया बारम्बर अपकार—अहित कर्म पापकर्माशय तुरन्त परिपाक को प्राप्त हो जाता है अर्थात् दृष्टजन्मवेदनीय—वर्तमान जन्म में फल देने वाला बन जाता है (यथा नन्दीश्वरः कुमारो मनुष्यपरिणामं हित्वा देवत्वेन परिणतः) जैसे—नन्दीश्वर कुमार मनुष्य परिणाम को छोड़कर देवत्व में परिणत हो गया (तथा नहुषोऽपि देवानामिन्द्रः स्वकं परिणामं हित्वा तिर्यक्त्वेन परि-

गत इति) और नहुष भी देवों का इन्द्र अपने परिणाम को छोड़कर तिर्यक्त्व में परिणत हो गया (तत्र नारकाणां नास्ति दृष्टजन्मवेदनीयः कर्माशयः) नरक अर्थात् अत्यन्त नीच गति को प्राप्त होने वाले जीवों का दृष्टजन्मवेदनीय—वर्तमान जन्म में फल देने वाला कर्माशय नहीं होता वह तो अन्धकार-मयी स्थावर योनि में ही भोगने योग्य होगा। एवम् (क्षीण-क्लेशानामपि नास्त्यदृष्टजन्मवेदनीयः कर्माशय इति) अविद्या आदि क्लेश जिनके क्षीण हो गये ऐसे मोक्ष के अधि-कारी जीवों का भी अदृष्टजन्मवेदनीय—अग्रिमजन्म में फल देने वाला कर्माशय नहीं होता क्योंकि वे पुनर्जन्म में जाने योग्य नहीं रहे शरीरपात के अनन्तर ही मुक्ति को प्राप्त हो जावेंगे ॥१२॥

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ॥१३॥

सूत्रार्थ—(सति मूले) मूल होने पर कर्माशय का अविद्या आदि क्लेशरूप मूल रहने पर (तद्विपाकः) उस कर्माशय का फल (जात्यायुर्भोगाः) जन्म* आयु और भोग हैं।

भाष्यानु०—(सत्सु क्लेशेषु कर्माशयो विपाकारम्भी भवति नोच्छिन्नक्लेशमूलः) उन अविद्या आदि पांच क्लेशों के रहने पर कर्माशय फल का लाने वाला बनता है उखड़े हुए क्लेश-रूप मूल वाला कर्माशय नहीं (यथा तुषावनद्धाः शालितण्डुला अदग्धबीजभावाः प्ररोहसमर्था भवन्ति नापनीततुषा दग्धबीज-

*"जन्मायुर्भोगाः" (व्यासः सूत्र० १४)

भावा वा) जैसे तुषों से ढके हुए दग्ध बीजभाव न होते हुए धान के चावल उगने में समर्थ होते हैं तुषों से रहित या दग्धबीजभाववाले नहीं (तथा क्लेशावनद्धः कर्माशयो विपाकप्ररोही भवति नापनीतक्लेशो न प्रसंख्यान-दग्धक्लेशबीजभावो वेति) उसी प्रकार क्लेशों से ढका कर्माशय फल को लाने वाला होता है क्लेशों से रहित हुआ या विवेकरूप अग्नि से दग्ध बीज हुआ नहीं (स च विपाक-स्त्रिविधो जातिरायुर्भोग इति) और वह फल तीन प्रकार का है जाति, आयु, भोग।

(तत्रेदं विचार्यते—किमेकं कर्मैकस्य जन्मनः कारणमथैकं कर्मानेकं जन्माक्षिपतीति) इस विषय में विचार किया जाता है कि एक कर्म एक जन्म का कारण है या एक कर्म अनेक जन्म तक चलता है (द्वितीया विचारणा–किमनेकं कर्मानेकं जन्म निर्वर्तयति अथानेकं कर्मैकं जन्म निर्वर्तयतीति) दूसरी विचारणा—क्या अनेक कर्म अनेक जन्म सिद्ध करते हैं या अनेक कर्म एक जन्म को सिद्ध करते है (न तावदेकं कर्मैकस्य जन्मनः कारणम्) एक कर्म एक जन्म का कारण नहीं है (कस्मात् — अनादिकालप्रचितस्यासंख्येयस्यावशिष्टस्य कर्मणः साम्प्रतिकस्य च फलक्रमानियमादनाश्वासो लोकस्य प्रसक्तः स चानिष्ट इति) क्योंकि अनादि काल से एकट्ठे हुए अगणित अवशिष्ट कर्म और वर्त्तमान के कर्मों के फलक्रम का अनियम हो जाने से– बारी न आने से लोगों का आश्वासन– सन्तोष नहीं बन पड़ता

है और यह सब अनिष्ट वस्तु है (न चैकं कर्मानेकस्य जन्मनः कारणम्, कस्मात्, अनेकेषु कर्मसु एकैकमेवं कर्मानेकस्य जन्मनः कारणमित्यवशिष्टस्य विपाककालाभाव इति) और न एक कर्म अनेक जन्म का कारण है क्योंकि अनेक कर्मों में एक एक कर्म अनेक जन्म का कारण है शेष कर्मों के विपाक [काल जन्मरूप फल भोगने में समय का अनवसर हो जाता है वह भी अनिष्ट है (न चानेकं कर्मानेकस्य जन्मनः कारणं कस्मात् तदनेकं जन्म युगपन्न संभवतीति क्रमेणैव वाच्यम्, तथा च पूर्ववद्दोषानुषङ्गः) और न अनेक कर्म अनेक जन्म का कारण है क्योंकि अनेक जन्म एक साथ नहीं होते हैं, क्रम से ही कहना चाहिए। पूर्व जैसा दोष है।

(तस्माज्जन्मप्रायणान्तरे कृतः पुण्यापुण्यकर्माशयप्रचयो विचित्रः प्रधानोपसर्जनभावेनावस्थितः प्रायणाभिव्यक्त एक प्रघट्टकेन मरणं प्रसाध्य सम्मूर्च्छित एकमेव जन्म करोति) इस लिए जन्म और मरण के बीच में किया गया पुण्य अपुण्य कर्माशय संग्रह विचित्र प्रधान और गौण भाव से अवस्थित मरण से अभिव्यक्त हुआ एक क्षण में मरण करके पिण्डित हुआ एक जन्म करता है (तच्च जन्म तेनैव कर्मणा लब्धायुष्कं भवति) और वह जन्म उसी कर्म से प्राप्तायुवाला होता है (तस्मिन्नायुषि तेनैव कर्मणा भोगः सम्पद्यत इति) उस आयु में उसी कर्म से भोग सम्पन्न होता है (असौ कर्माशयो जन्मायुर्भोगहेतुत्वात् त्रिविपाकोऽभिधीयत इति) वह कर्माशय

जन्य आयु भोग का हेतु होने से त्रिविपाक—तीन फलोंवाला कहा जाता है (अत एकभविकः कर्माशय उक्त इति) अतः एक जन्मवाला कर्माशय कहा जाता है।

(दृष्टजन्मवेदनीयस्त्वेकविपाकारम्भी भोगहेतुत्वाद्, द्विविपाकारम्भी वाऽऽयुर्भोगहेतुत्वाद्, नन्दीश्वरवन्नहुषवद्वा इति) वर्तमान जन्म में फल देने वाला कर्माशय एक विपाकारम्भी होता है, भोग का हेतु होने से या द्विविपाकारम्भी भी होता है, भोग और आयु का हेतु होने से नन्दीश्वर और नहुष के जैसे भी हो सकता है (क्लेशकर्मविपाकानुभवनिमित्ताभिस्तु वासनाभिरनादिकालसम्मूर्छितमिदं चित्तं चित्रीकृतमिव सर्वतो मत्स्यजालं ग्रन्थिभिरिवाततमित्येता अनेकभवपूर्विका वासनाः) क्लेश कर्म और विपाक के अनुभव से निष्पन्न हुई वासनाओं द्वारा अनादि काल से लिप्त यह चित्त ऐसे विचित्रीकृत है जैसे मछली पकड़ने का जाल ग्रन्थिबन्धनों से भरा होता है ये अनेक जन्मोंवाली वसनायें हैं (यस्त्वयं कर्माशय एष एकभविक उक्त इति) जो तो यह कर्माशय वह यही एक जन्म वाला है (ये संस्काराः स्मृतिहेतवस्ता वासनास्ताश्चानादिकालीना इति) जो संस्कार स्मृति के हेतु हैं वे हीं वासनायें अनादि कालीन हैं।

(यस्त्वसावेकभविकः कर्माशयः स नियतविपाकश्चानियतविपाकश्च) जो तो वह एकभविक-एक जन्म में फल देने वाला कर्माशय-कर्म संस्थान है वह नियत फल वाला भी है

और अनियतफलवाला भी है (तत्र दृष्टजन्मवेदनीयस्य नियतविपाकस्यैवायं नियमो न त्वदृष्टजन्मवेदनीयस्या-नियतविपाकस्य) वह एकभविक नियम नियतविपाक-वाले दृष्टजन्मवेदनीय का है अनियत विपाक वाले अदृष्ट-जन्मवेदनीय का नहीं (कस्मात्--यो ह्यदृष्टजन्मवेदनीयोऽ-नियतविपाकस्तस्य त्रयी गतिः) कारण कि जो अदृष्टजन्मवेद-नीय अनियतविपाक वाला है उसकी तीन प्रकार की गति है (कृतस्याविपक्वस्य नाशः, प्रधानकर्मण्यावापगमनं वा, नियतविपाकेन प्रधानकर्मणाऽभिभूतस्य वा चिरमवस्थानमिति) किये हुए अविपक्व कर्माशय का नाश, प्रधान कर्म में आवाप रूप से अंकुरित रूप से रहना, या नियतविपाक वाले प्रधान-कर्म से दब कर "वीज रूप में" चिर तक ठहरे रहना ('तत्र-कृतस्याविपक्वस्य नाशो यथा शुक्लकर्मोदयादिहैव नाशः कृष्णस्य) किये हुए अविपक्व का नाश जैसे-पुण्य कर्म के उदय से यहीं पापकर्म का नाश हो जाता है (यत्रेदमुक्तम् "द्वे द्वे ह वै कर्मणी वेदितव्ये पापकस्यैको राशिः पुण्यकृतोऽप-हन्ति तदिच्छस्व कर्माणि सुकृतानि कर्तुमिहैव ते कर्म कवयो वेदयन्ते) जिसके सम्बन्ध में कहा है—पाप के दो दो कर्मों को अर्थात् पाप तथा पाप-पुण्यमिश्रित कर्मों को पुण्यात्मा का एक कर्म पुण्यरूप हनन कर देता है । अतः पुण्य कर्मों को करने की यहां ही इच्छा कर विद्वान तेरे लिये जनाते है।

(प्रधानकर्मण्यावापगमनम्–यत्रेदमुक्तम् "स्यात्स्वल्पः संकरः

सपरिहार: प्रत्यवमर्श: कुशलस्य नापकर्षायालम्-कस्मात्-कुशलं हि मे बह्वन्यदस्ति यत्रायमावापं गत: स्वर्गेऽप्यपकर्षमल्पं करिष्यति" इति) प्रधान कर्म में अङ्कुरितरूप से रहने के सम्बन्ध में जहां यह कहा है—स्वल्प संकर अर्थात् थोड़ा दोष परिहार वाला सहनीय पुण्यभार से होता है वह दबा हुआ पुण्य की हानि में समर्थ नहीं होता कारण कि मेरा अन्य पुण्य बहुत है जहां यह आवाप अर्थात् अंकुरित भाव में ही रहता हुआ स्वर्ग अर्थात् सुख में भी थोड़ी ही हानि करेगा।

(नियतविपाकप्रधानकमर्णाऽभिभूतस्य वा चिरमवस्थानं कथमिति—अदृष्टजन्मवेदनीयस्यैव नियतविपाकस्य कर्मण: समानं मरणमभिव्यक्तिकारणमुक्तम्, न त्वदृष्टजन्मवेदनीयस्यानियतविपाकस्य) नियत फल वाले प्रधान कर्म से दबेहुए का देर तक ठहरना यह कैसे होता है सो अदृष्टजन्मवेदनीय नियत फल वाले कर्म का तुरन्त मरण उसकी अभिव्यक्ति का कारण कहा गया है अदृष्टजन्मवेदनीय अनियतफल वाले का नहीं (यत्त्वदृष्टजन्मवेदनीयं कर्मानियतविपाकं तन्नश्येदावापं वा गच्छेदभिभूतं वा चिरमप्युपासीत यावत्समानं कर्माभिव्यञ्जकं निमित्तमस्य न विपाकाभिमुखं करोतीति) जो अदृष्टजन्मवेदनीय अनियत फल वाला कर्म है वह नष्ट हो जाता है या अंकुरित रहे या बीज रूप में हुआ देर तक पड़ा रहे जब तक तत्काल प्रभाववाला कर्म अभिव्यञ्जक निमित्त को फल के अभिमुख नहीं करता है (तद्विपाकस्यैव देशकालनिमित्तावधा-

रणादियं कर्मगतिश्चित्रा दुर्विज्ञाना चेति) उसके फल के देश काल निमित्त के अनिश्चय से यह कर्मगति विचित्र और दुर्बोध्य है (न चोत्सर्गस्यापवादान्निवृत्तिरित्येकभविकः कर्माशयोऽनुज्ञायत इति) और अपवाद से उत्सर्ग की निवृत्ति नहीं होती अतः कर्माशय एक जन्म वाला ही माना गया है ॥१३॥

ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात्॥१४॥

सूत्रार्थः—(ते) वे 'जाति, आयु, भोग' (पुण्यापुण्यहेतुत्वात्) पुण्य और अपुण्य कारण वाले होने से (ह्लादपरितापफलाः) सुख और दुःख फल वाले हैं।

भाष्यानु०—(ते जन्मायुर्भोगाः पुण्यहेतुकाः सुखफला अपुण्यहेतुका दुःखफला इति) वे जन्म आयु भोग पुण्य जिनका कारण है सुखरूप फल वाले होते हैं और पाप जिनका कारण है वे दुःख फलवाले होते हैं (यथा चेदं दुःखं प्रतिकूलात्मकमेवं विषयसुखकालेऽपि दुःखमस्त्येव प्रतिकूलात्मकं योगिनः) जैसे कि प्रतिकूलरूप यह दुःख होता है इसी प्रकार विषय सुखकाल में प्रतिकूलरूपता होने से योगी के लिये सुख भी दुःख है ॥१४॥

(कथं तदुपपाद्यते-) कैसे उसका यौक्तिक कथन किया जाता है—

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ॥१५॥

सूत्रार्थः—(परिणामतापसंस्कारदुःखैः) परिणाम ताप संस्कारों

द्वारा (च) और (गुणवृत्तिविरोधात्) सत्व, रजः, तमः गुणों की वृत्तियों—प्रवृत्तियों फलप्रवृत्तियों के विरोध से (विवेकिनः) विवेकी के लिए (सर्वं दुःखम्-एव) सब दुःख ही है।

भाष्यानु०—(सर्वस्यायं रागानुविद्धश्चेतनाचेतनसाधनाधीनः सुखानुभव इति तत्रास्ति रागजः कर्माशयः) चेतन जड़ साधनों के अधीन जितना भी सुख का अनुभव है वह सब ही रागयुक्त है वह रागज कर्माशय है (तथा च द्वेष्टि दुःखसाधनानि मुह्यति चेति द्वेषमोहकृतोऽप्यस्ति कर्माशयः) इसी प्रकार दुःख के साधनों के प्रति द्वेष करता है और मोह करता है द्वेष और मोह का किया हुआ भी कर्माशय है (तथा चोक्तम्—"नानुपहत्य भूतान्युपभोगः संभवतीति हिंसाकृतोऽप्यस्ति शारीरः कर्माशय इति विषयसुखं चाविद्येत्युक्तम्) ऐसा कहा भी है प्राणियों को बिना पीड़ा दिये भोग संभव नहीं है अतः हिंसाकृत भी शारीरिक कर्माशय है और विषयसुख अविद्या कहा गया है।

(या भोगेष्विन्द्रियाणां तृप्तेरुपशान्तिस्तत्सुखम्) भोगों में जो इन्द्रियोंकी तृप्ति--तृष्णाकी उपशान्ति उसका बुझ जाना है वह सुख है (या लौल्यादनुपशान्तिस्तद्दुःखम्) जो वासना व्याकुलता से अनुपशान्ति न बुझना है वह दुःख है (न चेन्द्रियाणां भोगाभ्यासेन वैतृष्ण्यं कर्तुं शक्यम्) और भोगाभ्यास-भोगों के निरन्तर भोगते रहने से इन्द्रियों को तृष्णारहित नहीं कर सकते (कस्मात्, यतो भोगाभ्यासमनुविवर्धन्ते रागाः कौश-

लः नि चेन्द्रियाणामिति) कारण कि-जिससे भोगाभ्यास के साथ साथ राग बढ़ते हैं यह इन्द्रियों का कौशल है (तस्मादनुपायः सुखस्य भोगाभ्यास इति) इसलिये भोगाभ्यास सुख का उपाय नहीं है (स खल्वयं वृश्चिकविषभीत इवाशीविषेण दष्टो यः सुखार्थी विषयानुवासितो महति दुःखपङ्के निमग्न इति) वह यह बिच्छू के विष से डरा जैसा सर्पविष से डसा हुआ जो सुखार्थी विषयानुवासित महान् दुःखपङ्क में डूबा है (एषा परिणामदुःखता नाम प्रतिकूला सुखावस्थायामपि योगिनमेव क्लिश्नाति) यह परिणामदुःखता सुखावस्था में भी प्रतिकूल हुई योगी को ही क्लेश देती है।

(अथ का तापदुःखता) अब तापदुःखता क्या है। यह देखिये (सर्वस्य द्वेषानुविद्धश्चेतनाचेतनसाधनाधीनस्तापदुःखानुभव इति तत्रास्ति द्वेषजः कर्माशयः) सभी का द्वेषयुक्त जड़ चेतन वस्तु के अधीन तापानुभव है इससे द्वेष से उत्पन्न कर्माशय है (सुखसाधनानि च प्रार्थयमानः कायेन वाचा मनसा च परिस्पन्दते ततः परमनुगृह्णात्यपहन्ति चेति परानुग्रहपीडाभ्यां धर्माधर्मावुपचिनोति) सुख के साधनों को चाहता हुआ शरीर वाणी और मन से दौड़ धूप करता है पुनः दूसरे को अपनाता और नष्ट करता है दूसरे की रक्षा और हिंसा से धर्म अधर्म का संग्रह करता है (स कर्माशयो लोभान्मोहाच्च भवति इत्येषा तापदुःखतोच्यते) वह कर्माशय लोभ से मोह से होता है यह तापदुःखता है (का पुनः संस्कारदुःखता) संस्कारदुःखता

क्या है। यह देखिये (सुखानुभवात्सुखसंस्काराशयो दुःखानुभवादपि दुःखसंस्काराशय इति) सुखानुभव से सुखसंस्काराशय और दुःखानुभवसे दुःखसंस्काराशय होता है (एवं कर्मभ्यो विपाकेऽनुभूयमाने सुखे दुःखे वा पुनः कर्माशयप्रचय इति) इस प्रकार कर्मों से फल अनुभव होते हुए सुख या दुःख में पुनः कर्माशय का एकत्रीभाव होता है (एवमिदमनादिदुःखस्रोतो विप्रसृतं योगिनमेव प्रतिकूलात्मकत्वादुद्वेजयति) इस प्रकार यह अनादि बहता हुआ दुःखस्रोत योगी को ही प्रतिकूलात्मक होने से कम्पाता है—दुःख देता है। (कस्मात् अक्षिपात्रकल्पो हि विद्वानिति) क्योंकि नेत्रगोलक के सदृश विद्वान् होता है (यथोर्णातन्तुरक्षिपात्रे न्यस्तः स्पर्शेन दुःखयति न चान्येषु गात्रावयवेषु, एवमेतानि दुःखान्यक्षिपात्रकल्पं योगिनमेव क्लिश्नन्ति नेतरं प्रतिपत्तारम्) जैसे ऊन का तन्तु—बाल आँख रूप पात्र में गिरा हुआ स्पर्श से दुःख देता है अन्य गात्रभागों में नहीं इसी प्रकार ये दुःख अक्षिपात्र—आँख पात्र जैसे योगी को ही क्लेश देते हैं किसी अन्य जन को नहीं (इतरं तु स्वकर्मोपहृतं दुःखमुपात्तमुपात्तं त्यजन्तं त्यक्तं त्यक्तमुपाददानमनादिवासनाविचित्रया चित्तवृत्त्या समन्ततोऽनुविद्धमिवाविद्यया हातव्या एवाहंकारममकारानुपातिनं जातं जातं बाह्याध्यात्मिकोभयनिमित्तास्त्रिपर्वाणस्तापा अनुप्लवन्ते) उत्पन्न मात्र अन्य जन तो अपने कर्मों से निष्पन्न दुःख को प्राप्त को छोड़ते हुए, छोड़े हुए छोड़े हुए को लेते हुए,

अनादि विचित्र वासनाओं से चित्रित चित्तवृत्ति से अविद्या द्वारा पूर्ण जकड़े हुए जैसे तथा अहंकार ममकार के पीछे पड़े हुए के प्रति तो बाह्य और आध्यात्मिक निमित्तों वाले उक्त तीन पर्वोंवाले ताप प्राप्त होते हैं वे ताप हातव्य ही हैं। (तदेवमनादिना दुःखस्रोतसा व्युह्यमानमात्मानं भूतग्रामं च दृष्ट्वा योगी सर्वदुःखक्षयकारणं सम्यग्दर्शनं शरणं प्रपद्यत इति) वह इस प्रकार अनादि दुःखस्रोत से घिरा हुआ अपने को तथा प्राणीसमूह को देखकर योगी समस्त दुःखों के क्षयकारणरूप सम्यग्दर्शन यथार्थज्ञान शरण को प्राप्त होता है।

(गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः) गुणवृत्ति-विरोध से भी विवेकी के लिये सब दुःख ही है (प्रख्याप्रवृत्ति-स्थितिरूपा बुद्धिगुणाः परस्परानुग्रहतन्त्री भूत्वा शान्तं घोरं मूढं वा प्रत्ययं त्रिगुणमेवारभन्ते) सत्त्वरजस्तमोरूप चित्त के गुण परस्पर सहायक होकर शान्त घोर या मूढ प्रतिभान को उत्पन्न करते हैं। (चलं च गुणवृत्तमिति क्षिप्रपरिणामि चित्त-मुक्तम्) और गुणों का व्यवहार अस्थिर और चित्त शीघ्र परिणामी कहा गया है (रूपातिशया वृत्त्यतिशयाश्च परस्परेण विरुध्यन्ते सामान्यानि त्वतिशयैः सह प्रवर्तन्ते) धर्म अधर्म आदि कारण रूप भाव और सुखदुःख आदि फलस्वरूप परस्पर विरुद्ध पड़ते हैं सामान्य अतिशयों के साथ प्रवृत्त होते हैं—(एवमेते गुणा इतरेतराश्रयेणोपार्जितसुखदुःखमोहप्रत्ययाः

सर्वे सर्वरूपा भवन्तीति गुणप्रधानभावकृतस्तेषां विशेष इति) इस प्रकार ये गुण एक दूसरे के आश्रय से संगृहीत सुखदुःख मोहरूपप्रतीतिवाले सर्वरूपी होते हैं गौणभाव और प्रधान भाव द्वारा ही इनका भेद होता है (तस्माद्दुःखमेव सर्वं विवेकिनः) इसलिए विवेकी के लिए सब दुःख ही है।

(तदस्य महतो दुःखसमुदायस्य प्रभवबीजमविद्या) अतः इस महान दुःखसमुदाय का प्रभव-बीज अविद्या है (तस्याश्च सम्यग्दर्शनमभावहेतुः) इस अविद्या का यथार्थ बोध दुःख के अभाव का कारण है (यथा चिकित्साशास्त्रं चतुर्व्यूहम्—रोगो रोगहेतुरारोग्यं भैषज्यमिति, एवमिदमपि शास्त्रं चतुर्व्यूहमेव) जैसे चिकित्साशास्त्र चार विभाग रूप है रोग, रोगहेतु, आरोग्य और भैषज्य अर्थात् इलाज इसी प्रकार यह योग शास्त्र भी चारविभागों वाला है (तद्यथा संसारः संसारहेतुर्मोक्षो मोक्षोपाय इति) जैसा की संसार, संसार का हेतु, मोक्ष और मोक्ष का उपाय (तत्र दुःखबहुलः संसारो हेयः, प्रधानपुरुषयोः संयोगो हेयहेतुः, संयोगस्यात्यन्तिकी निवृत्ति र्हानं, हानोपायः सम्यग्दर्शनम्) उन में दुःखरूप संसार हेय, प्रकृति पुरुष का संयोग हेय का कारण, संयोग की अत्यन्तनिवृत्ति हान, और हान का उपाय सम्यग्ज्ञान है (तत्र हातुः स्वरूपमुपादेयं हेयं वा न भवितुमर्हमिति हाने तस्योच्छेदप्रसङ्ग उपादाने च हेतुवादः) उनमें हान करने वाले आत्मा का स्वरूप न उपादेय न हेय हो सकता है हान करने पर उस के

उच्छेद हो जाने का प्रसङ्ग आता है और उपादान में प्राप्ति के कारण का प्रसङ्ग आता है (उभयप्रत्याख्याने शाश्वतवाद इत्येतत्सम्यग्दर्शनम्) दोनों के निवृत्त करने पर शाश्वतवाद नित्यत्व सिद्ध होता है बस यह सम्यग्दर्शन—यथार्थ ज्ञान है ॥१५॥

अव०—(तदेतच्छास्त्रं चतुर्व्यूहमित्यभिधीयते) वह यह शास्त्र चार विभागों वाला वर्णित किया जाता है—

हेयं दुःखमनागतम् ॥१६॥

सूत्रार्थ—(अनागतं दुःखम्) अनागत—जो आया नहीं-आने वाला--भावी दुःख (हेयम्) हेय है हटाने योग्य है।

भाष्यानु०—(दुःखमतीतमुपभोगेनातिवाहितं न हेयपक्षे वर्तते) अतीत दुःख उपभोग से अतिवाहित हो गया हेय-पक्ष में नहीं होता है (वर्तमानं च स्वक्षणे भोगारूढमिति न तत्क्षणान्तरे हेयतामापद्यते) और वर्त्तमान दुःख अपने क्षण में हेयता को प्राप्त नहीं हो सकता (तस्माद्यदेवानागतं दुःख तदेवाक्षिपात्रकल्पं योगिनं क्लिश्नाति नेतरं प्रतिपत्तारम्) अतः जो ही अनागत दुःख है वह ही अक्षिपात्र जैसे योगी को क्लेश देता है दूसरे साधारण जन को नहीं (तदेव हेयतामापद्यते) वह ही हेयता को प्राप्त होता है ॥१६॥

अव०—(तस्माद्यदेव हेयमित्युच्यते तस्यैव कारणं प्रतिनिर्दिश्यते) इस से जो ही हेय कहा जाता है उसी का कारण प्रतिनिर्दिष्ट किया जाता है।

द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः ॥१७॥

सूत्रार्थ—(द्रष्टृदृश्ययोः) द्रष्टा आत्मा और दृश्य भिन्न भिन्न प्रतीत होने वाली वस्तुओं का (संयोगः) संयोग (हेय-हेतुः) हेय का हेतु है।

भाष्यानु०—(द्रष्टा बुद्धेः प्रतिसंवेदी पुरुषः) बुद्धि का अनुभव करने वाला पुरुष अर्थात् आत्मा द्रष्टा है (दृश्या बुद्धिसत्वोपारूढाः सर्वे धर्माः) बुद्धि सत्व को प्राप्त होने वाले सब धर्म दृश्य हैं (तदेतद्दृश्यमयस्कान्तमणिकल्पं सान्निधिमात्रोपकारि दृश्यत्वेन स्वं भवति पुरुषस्य दृशिरूपस्य स्वामिनः, अनुभवकर्मविषयतामापन्नं यतः) वह यह दृश्य अयस्कान्त मणि के सदृश निकट होने से उपयोग में आने वाला होता है और द्रष्टारूप स्वामी पुरुष अर्थात् आत्मा का दृश्य होने के कारण उसका स्व बन जाता है क्योंकि अनुभव रूप कर्म विषयता को प्राप्त होता है (अन्यस्वरूपेण प्रतिलब्धात्मकं स्वतन्त्रमपि परार्थत्वात् परतन्त्रम्) अन्य स्वरूप से प्राप्त सत्तावाला होने से स्वतन्त्र होता हुआ भी परार्थ होने से परतन्त्र है (तयोर्दृग्दर्शनशक्त्योरनादिरर्थकृतः संयोगो हेयहेतुर्दुःखस्य कारणमित्यर्थः) उन द्रष्टृशक्ति और दर्शनशक्ति का अर्थकृत निमित्तविशेष से अनादि संयोग अर्थात् शुद्ध अनादि तो नहीं किन्तु वासना एवं अविद्या के सम्पर्क से प्रावाहिक अनादिसंयोग हेय का हेतु दुःख का कारण है (तथा चोक्तम्-तत्संयोगहेतुविवर्जनात् स्यादयमात्यन्तिको दुःखप्रतीकारः) वैसा कहा भी है

'पञ्चशिखाचार्य ने' कि उनके हेतु को त्याग देने से आत्यन्तिक दुःख का प्रतिकार हो सकता है (कस्मात्-दुःखहेतोः परिहार्यस्य प्रतिकारदर्शनात्) क्योंकि दूरकरने योग्य दुःखकारण का प्रतिकार देखा जाने से (तद्यथा पादतलस्य भेद्यता, कण्टकस्य भेत्तृत्वं, परिहारः कण्टकस्य पादानधिष्ठानं पादत्राणव्यवहितेन वाधिष्ठानम्, एतत्त्रयं यो वेद लोके स तत्प्रतिकारमारभमाणो भेदजं दुःखं नाप्नोति) जैसा कि 'कांटा चुभ जाते पर, पैर के तल की पीड़ा, कांटे का पीडकत्व-चुभना परिहार या उस दुःख के प्रतिकार कांटे पर पैर न पड़ना या पादत्राण अर्थात् जूते खड़ाऊं आदि पहिने हुए पैर रखना इन तीनों को जो संसार में जानता है उस अवस्था में प्रतिकार करता हुआ कांटे चुभने के दुःख को प्राप्त नहीं होता (कस्मात् त्रित्वोपलब्धिसामर्थ्यादिति) क्योंकि तीनों बातों की ज्ञानशक्ति से (अत्रापि तापकस्य रजसः सत्त्वमेव तप्यम्) यहां भी तापक रजोगुण का सत्त्व ही तपाने योग्य है (तपिक्रियायाः कर्मस्थत्वात् सत्त्वे कर्मणि तपिक्रिया नापरिणामिनि निष्क्रिये क्षेत्रज्ञे दर्शितविषयत्वात्) क्योंकि तापक्रिया कर्मस्थ है कर्म में रहती है कर्म में परिणाम लाती है 'घड़े आदि के समान' तापक्रिया सत्त्वरूप कर्मकारक पदार्थ में होती है अपरिणामी निष्क्रिय क्षेत्रज्ञ अर्थात् आत्मा में नहीं उसके दर्शितविषय होने से विषय जिसके प्रति दर्शित किए जाचुके हैं (सत्त्वे तु तप्यमाने तदाकारानुरोधी पुरुषोऽप्यनुतप्यत इति) सत्त्व के

तप्यमान होने पर उसके आकार का अनुरोध अनुरूप धारण करने वाला होने से पुरुष अर्थात् आत्मा भी पुनः तप्त होता है ॥ १७ ॥

अव०—(दृश्यस्वरूपमुच्यते) दृश्य का स्वरूप कहा जाता है

प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम् ॥१८॥

सूत्रार्थ—(दृश्यम्) दृश्य (अर्थात् द्रष्टा–आत्मा से भिन्न वस्तु (प्रकाशक्रियास्थितिशीलम्) प्रकाशशील क्रियाशील स्थितिशील अर्थात् सत्त्व रजस्तमोरूप (भूतेन्द्रियात्मकम्) पृथिवी आदि भूत और नासिकादि इन्द्रिय नामक (भोगापवर्गार्थम्) द्रष्टा–आत्मा के भोग और अपवर्ग के लिये हैं।

भाष्यानु०—(प्रकाशशीलं सत्त्वम्) प्रकाशशील सत्त्व (क्रियाशीलं रजः) क्रियाशील रज (स्थितिशीलं तमः) स्थितिशील तम है (एते गुणाः परस्परोपरक्तप्रविभागाः परिणामिनः संयोगवियोगधर्माण इतरेतरोपाश्रयेणोपार्जित-मूर्तयः परस्पराङ्गाङ्गित्वेऽप्यसम्भिन्नशक्तिप्रविभागास्तुल्य-जातीयातुल्यजातीयशक्तिभेदानुपातिनः) ये गुण परस्पर उपराग विराग रखने वाले, परिणामी, संयोगवियोगधर्मी, एक दूसरे के आश्रय से प्राप्त स्वरूप वाले, परस्पर अङ्ग-अङ्गी भाव—गौण प्रधान भाव में भी अलग अलग शक्तिविभाग वाले, तुल्यजातीय और अतुल्यजातीय पदार्थों में अपनी शक्ति के भेद को प्राप्त होने वाले (प्रधानवेलायामुपदर्शित-

सन्निधाना गुणत्वेऽपि च व्यापारमात्रेण प्रधानान्तर्णीतानुमितास्तिता: पुरुषार्थकर्तव्यतया प्रयुक्तसामर्थ्या: सन्निधिमात्रोपकारिणोऽयस्कान्तमणिकल्पा: प्रत्ययमन्तरेणैकतमस्य वृत्तिमनुवर्तमाना: प्रधानशब्दवाच्या भवन्ति, एतद्दृश्यमित्युच्यते,) प्रधान अवस्था में निकट स्वधर्मी वस्तु को आत्मा के प्रति दिखाने वाले गौण होने पर भी व्यापार मात्र से प्रधानके अन्दर रहते हुए अनुभव द्वारा अपने अस्तित्व को बताने वाले पुरुष अर्थात आत्मा के प्रति कर्तव्यता से निज सामर्थ्य को प्रयुक्त कर चुकने वाले समीप मात्र का उपभोग कराने वाले अयस्कान्त मणि के सदृश विना निज प्रतीति में किसी एक की वृत्ति के अनुकूल वर्तमान हुए प्रधान शब्द से कहे जाने वाले होते हैं।

(तदेतद् भूतेन्द्रियात्मकं भूतभावेन पृथिव्यादिना सूक्ष्मस्थूलेन परिणमते तथेन्द्रियभावेन श्रोत्रादिना सूक्ष्मस्थूलेन परिणमत इति) वह यह भूतात्मक और इन्द्रियात्मक पृथिवी आदि सूक्ष्म स्थूल भूतभाव से परिणाम को प्राप्त होता है इसी प्रकार श्रोत्र आदि से सूक्ष्म स्थूल इन्द्रिय भाव से परिणाम को प्राप्त होता है (तत्तुनाप्रयोजनमपितु प्रयोजनमुररीकृत्य प्रवर्तत इति भोगापवर्गार्थं हि तद्दृश्यं पुरुषस्येति) वह अप्रयोजन को नहीं किन्तु प्रयोजन को स्वीकार करके प्रवृत्त होता है अत: वह दृश्य पुरुष के भोग और अपवर्ग के लिये है (तत्रेष्टानिष्टगुणस्वरूपावधारणमविभागापन्नं भोगो भोक्तु:

स्वरूपावधारणमपवर्ग इति) उसमें इष्ट अनिष्ट गुण के स्वरूप के बिना विभाग के अनुभव होना भोग और भोक्ता आत्मा के स्वरूप का अनुभव अपवर्ग मोक्ष है (द्वयोरतिरिक्तमन्यदर्शनं नास्ति) इन दो से अतिरिक्त दर्शन-प्रतीति नहीं है (तथा चोक्तम्-अयं तु खलु त्रिषु गुणेषु कर्तृष्वकर्तरि च पुरुषे तुल्यातुल्यजातीये चतुर्थे तत्क्रियासाक्षिण्युपनीयमानान्सर्व-भावानुपपन्नाननुपश्यन्न दर्शनमन्यच्छंकत इति) ऐसा कहा भी है यह तो कर्ता बने हुए तीन गुणों में और चौथे अकर्ता तुल्य अतुल्य जातीय उनकी क्रियाओं के साक्षी पुरुष अर्थात् आत्मा में उत्पन्न—उपनीयमान सब भावों को अन्य अदर्शन की शङ्का करता है।

(तावेतौ भोगापवर्गौ बुद्धिकृतौ बुद्धावेव वर्तमानौ कथं पुरुषे व्यपदिश्येते इति) वह यह चित्तकृत-चित्त में होने वाले भोग और अपवर्ग पुरुष में कैसे व्यवहृत होते हैं (यथा जयः पराजयो वा योद्धृषु वर्तमानः स्वामिनि व्यपदिश्यते स हि तत्फलस्य भोक्तेति एवं बन्धमोक्षौ बुद्धावेव वर्तमानौ पुरुषे व्यपदिश्येते स हि तत्फलस्य भोक्तेति) जैसे जय या पराजय योद्धाओं में रहता हुआ स्वामी "राजा" में व्यवहृत होता है उसी प्रकार बन्ध और मोक्ष बुद्धि में वर्तमान हुए पुरुष में व्यवहृत होते हैं क्योंकि वह ही उसके फल का भोक्ता है (बुद्धेरेव पुरुषार्थपरिसमाप्तिर्बन्धस्तदर्थावसानो मोक्ष इति) बुद्धि अर्थात् चित्त की पुरुषार्थ परिसमाप्ति पुरुष के लिये लग

जाना बन्ध है और उसका अवसान मोक्ष है (एतेन ग्रहण-धारणोहापोहतत्त्वज्ञानाभिनिवेशा बुद्धौ वर्तमानाःपुरुषेऽध्यारोपित-सद्भावाः) इस से ग्रहण धारण ऊहा अपोह तत्त्वज्ञान के अभिनिवेश चित्त में वर्तमान हुए पुरुष में अध्यारोपित सत्ता-वाले हैं (स हि तत्फलस्य भोक्तेति) वह ही उनके फलों का भोक्ता है ॥१८॥

(दृश्यानां गुणानां स्वरूपभेदावधारणार्थमिदमारभ्यते-) दृश्य गुणों के स्वरूपभेद के निश्चयार्थ यह कहा जाता है—

विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि ॥१६॥

सूत्रार्थ—(विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि) विशेष, अविशेष, लिङ्गमात्र, अलिङ्ग (गुणपर्वाणि) गुणों के पर्व अर्थात् काण्ड हैं।

भाष्यानु०—(तत्राकाशवाय्वग्न्युदकभूमयो भूतानि शब्द-स्पर्शरूपरसगन्धतन्मात्राणामविशेषाणां विशेषाः) इनमें अवि-शेष रूप-सामान्यरूप, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध तन्मात्राओं के आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी विशेष परिणाम हैं (तथा श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणानि बुद्धीन्द्रीयाणि, वाक्पाणि-पादपायूपस्थाः कर्मेन्द्रियाणि, एकादशं मनः सर्वार्थम्, इत्येतान्यस्मितालक्षणस्याविशेषस्य विशेषाः) तथा श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा, नासिका, ज्ञानेन्द्रियां, वाक् [वक्त्र] हाथ, पांव, गुदा, उपस्थ कर्मेन्द्रियां, ग्यारहवां सर्वार्थ मन ये सब अस्मिता-लक्षण वाले अहङ्कार अविशेष सामान्य पदार्थ के विशेष परिणाम हैं (गुणानामेष षोडशको विशेषपरिणामः) गुणों का यह सोलह संख्या वाला विशेष परिणाम है (षडविशेषाः) छः अविशेष अर्थात् सामान्य हैं (तद्यथा-शब्दतन्मात्रं स्पर्श-

न्मात्रं रूपतन्मात्रं, रसतन्मात्रं, गन्धतन्मात्रञ्चेति—एकद्वित्रि-चतुःपंचलक्षणाः शब्दादयः पंचाविशेषाः, षष्ठश्चाविशेषो ऽस्मितामात्र इति) जैसा कि शब्दतन्मात्र स्पर्शतन्मात्र रूपतन्मात्र रसतन्मात्र और गन्धतन्मात्र एक दो तीन चार पांच लक्षण वाले शब्द आदि पांच सामान्य हैं छठा सामान्य अस्मितामात्र है (एते सत्तामात्रस्याऽऽत्मनो महतः षडविशेषपरिणामाः) ये सत्तामात्र महत्तत्त्व के छः सामान्य परिणाम (यत्तत्परमविशेषेभ्यो लिङ्गमात्रं महत्तत्वं तस्मिन्नेते सत्तामात्रे महत्यात्मन्यवस्थाय विवृद्धिकाष्ठामनुभवन्ति) जो वह सामान्यों से परे लिङ्गमात्र हैं उस महत्तत्त्व सत्तामात्र में ये अवस्थित होकर विशेष विशेष परिणाम की अन्तिम वृद्धि को प्राप्त होते हैं [परिचयार्थ देखो निम्न चित्र]_
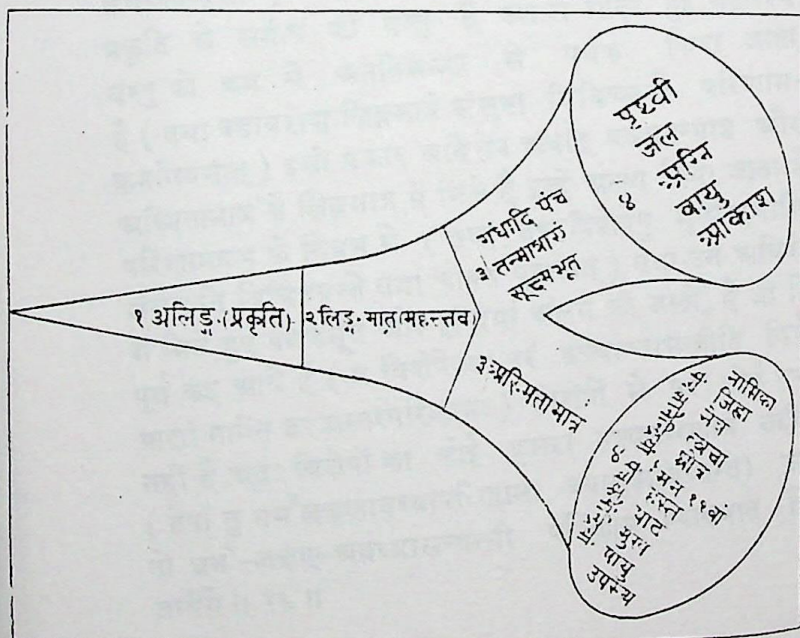
(प्रति संसृज्यमानाश्च तस्मिन्नेव सत्तामात्रे महत्यात्मन्यवस्थाय यत्तन्निःसत्तासत्तं निःसदसन्निरसदव्यक्तमलिङ्गं प्रधानं तत्प्रतियन्ति) और प्रलीयमान होते हुए उसी सत्तामात्र महत्तत्व में अवस्थित होकर पुनः जो "निःसत्तासत्तम्" सत्ता असत्ता से निष्क्रान्त है—पृथक है अर्थात् घट आदि लौकिक सत्ता जैसा नहीं पर सर्वथा सत्तारहित भी नहीं क्योंकि अनुमानगम्य—अनुमान से उसकी सिद्धि है "निःसद्सत्" कार्य से निष्क्रान्त होकर अत्यन्त सूक्ष्म रूपमें विराजमान अतीन्द्रिय "निरसद्" अभावता से रहित भावात्मक "अव्यक्तमलिङ्गं प्रधानम्" अव्यक्त अलिङ्ग-लिङ्गता लक्षणता से रहित महत्तत्त्व से ऊपर कारण प्रकृति है उसमें लीन हो जाते हैं (एष तेषां लिङ्गमात्रः परिणामो निःसत्तासत्तं चालिङ्गपरिणाम इति) यह उनका लिङ्गमात्र परिणाम और निःसत्तासत्त अलिङ्ग परिणाम है।

(अलिङ्गावस्थायां न पुरुषार्थो हेतुर्नालिङ्गावस्थायामादौ पुरुषार्थता कारणं भवतीति) अलिङ्ग अवस्था में न पुरुषार्थ हेतु न अलिङ्ग अवस्था में आदि में पुरुषार्थता कारण होता है (न तस्याः पुरुषार्थता कारणं भवतीति) उसकी पुरुषार्थता कारण नहीं है (नासौ पुरुषार्थकृतेति नित्याऽऽख्यायते) क्योंकि पुरुषार्थ से की गई नहीं है नित्य प्रसिद्ध है (त्रयाणां त्ववस्थाविशेषाणामादौ पुरुषार्थता कारणं भवति) तीन विशेष अवस्थाओं 'सत्त्व-रज-तम गुणों' की आदिमें पुरुषार्थता कारण होती है (स चार्थो हेतुर्निमितं कारणं भवतीत्यनित्याऽऽख्यायते) और वह अर्थ हेतु निमित्त कारण होता है क्योंकि वह पुरुषार्थता अनित्य कही जाती है (गुणास्तु सर्वधर्मानुपातिनो न प्रत्यस्तमयन्ते

नोपजायन्ते) गुण तो सब धर्मों के अनुयायी हैं न वे लीन होते हैं न उत्पन्न होते हैं (व्यक्तिभिरेवातीतानागतव्ययागमवतीभिर्गुणान्वयिनीभिरुपजननापायधर्मका इव प्रत्यवभासन्ते) गुणों से युक्त होने वाली तथा ह्रासवृद्धिवाली व्यक्तियों के साथ उत्पत्तिनाश धर्म जैसे प्रतीत होते हैं (यथा देवदत्तो दरिद्राति, कस्मात् यतोऽस्य म्रियन्ते गाव इति, गवामेव मरणात्तस्य दरिद्राणं न स्वरूपहानादिति समः समाधिः) जैसे देवदत्त दरिद्र हो रहा है, क्यों ? जिससे इसकी गौवें मर रही हैं, गौवों के मरने से दरिद्रता है स्वरूप के नाश से नहीं, समाधान तुल्य है। ऐसे ही यहां समझें—

(लिङ्गमात्रमलिङ्गस्य प्रत्यासन्नं, तत्र तत्संसृष्टं विविच्यते क्रमानतिवृत्तेः) लिङ्गमात्र अर्थात् महत्तत्त्व अलिङ्गमात्र प्रकृति के समीप की वस्तु है उस से-मिली हुई महतत्त्व वस्तु को क्रम से अनतिक्रमण से पृथक् किया जाता है (तथा षडविशेषा लिङ्गमात्रे संसृष्टा विविच्यन्ते परिणामक्रमनियमात्) इसी प्रकार अविशेष अर्थात् पञ्चतन्मात्र और अस्मितामात्र ये लिङ्गमात्र में मिले हैं इन्हें अलग किया जाता है परिणामक्रम के नियम से (तथा तेष्वविशेषेषु भूतेन्द्रियाणि संसृष्टानि विविच्यन्ते तथा चोक्तं पुरस्तात्) तथा उन अविशेषों में मिले हुए पञ्चभूत और इन्द्रियां अलग की जाती हैं जो कि पूर्व कह आये हैं (न विशेषेभ्यः परं तत्त्वान्तरमस्तीति विशेषाणां नास्ति तत्त्वान्तरपरिणामः) विशेषों से परे कोई तत्त्व नहीं है अतः विशेषों का कोई दूसरा तत्त्वपरिणाम नहीं है (तेषां तु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्यायिष्यन्ते) उनके तो धर्म-लक्षण-अवस्थासम्बन्धी परिणाम व्याख्यात किये जायेंगे ॥ १६ ॥

अव०—(व्याख्यातं दृश्यमथ द्रष्टुः स्वरूपावधारणार्थमिद-मारभ्यते) दृश्य समझा दिया गया अब द्रष्टा के स्वरूपावधार-णार्थ यह सूत्र आरम्भ किया जाता है—

द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः ॥ २० ॥

सूत्रार्थ—(द्रष्टा दृशिरूपः) द्रष्टा—आत्मा दृक्शक्तिमात्र है वह (शुद्धः—अपि) शुद्ध होता हुआ भी (प्रत्ययानुपश्यः) ज्ञान एवं प्रतीति का अनुभवकर्त्ता है।

भाष्यानु०—(दृशिमात्र इति दृक् शक्तिरेव विशेषणापरा-मृष्टेत्यर्थः) दृक्-शक्ति ही विशेषणसम्बन्ध से रहित है (स पुरुषो बुद्धेः प्रतिसंवेदी) वह पुरुष अर्थात् आत्मा बुद्धि का अनुभव करने वाला है (स बुद्धेर्न स्वरूपो नात्यन्तं विरूप-इति) वह बुद्धि के न समानरूपवाला है न अत्यन्त विरूप-वाला है (न तावत् सरूपः, कस्मात्-ज्ञाताज्ञातविषयत्वात् परि-णामिनी हि बुद्धिः) वह सरुप नहीं है कारण कि उसके प्रति ज्ञात अज्ञात विषय होने से वह परिणामिनी है (तस्याश्च विषयो गवादिर्घटादिर्वा ज्ञातश्चाज्ञातश्चेति परिणामित्वं दर्शयति) उस बुद्धि का विषय गौ आदि या घटादि ज्ञात और अज्ञात है अतः परिणामिता को दर्शाता है (सदाज्ञातविषयत्वं तु पुरुषस्यापरिणामित्वं परिदीपयति) सदा ज्ञात विषयता "पुरुष के अन्दर होने से" पुरुष की अपरि-णामिता को सिद्ध करती है (कस्मात्, नहि बुद्धिश्च नाम पुरुषविषयश्च स्यादगृहीता गृहीता चेति सिद्धं पुरुषस्य सदा-

ज्ञातविषयत्वं ततश्चापरिणामित्वमिति) कारण कि बुद्धि गृहीत
और अगृहीत रूप से पुरुष का विषय न हो सके पुरुष
के प्रति तो उसकी सदा ज्ञातविषयता है अतः पुरुष का
अपरिणामी होना सिद्ध है (किंच परार्था बुद्धिः संहत्यकारि-
त्वात् स्वार्थः पुरुष इति) और भी बुद्धि परार्थ है मिलकर काम
करने वाली होने से, पुरुष स्वार्थ है दूसरे किसी जड़ पदार्थ के
लिये नहीं(तथा सर्वार्थाध्यवसायकत्वात् त्रिगुणा बुद्धिस्त्रिगुणत्वा-
दचेतनेति गुणानां तूपद्रष्टा पुरुष इत्यतो न सरूपः)तथा बुद्धि सर्वार्थ
की निश्चय कराने वाली त्रिगुणा और त्रिगुणा होने से अचेतन
है पुरुष तो त्रिगुणी नहीं किन्तु गुणों का उपद्रष्टा साक्षात्कर्त्ता
है अतः पुरुष बुद्धि के समान रूपवाला नहीं है।

(अस्तु तर्हि विरूप इति) अच्छा तो विरूप सही (नात्यन्तं
विरूपः) न अत्यन्त विरूप है (कस्मात्—शुद्धोऽप्यसौ प्रत्यया-
नुपश्यो यतः) क्यों ? जिससे कि शुद्ध होता हुआ भी वह प्रत्ययों
ज्ञान प्रतीतियों का अनुभवकर्त्ता है (प्रत्ययं बौद्धमनुपश्यति
तमनुपश्यन्न तदात्माऽपि तदात्मक इव प्रत्यवभासते) बुद्धि
के प्रतिभान को अनुभव करता है उसे अनुभव करता हुआ उस
जैसा न होता हुआ भी उस जैसा प्रतीत होता है (तथा चोक्तम्-
अपरिणामिनी हि भोक्तृशक्तिरप्रतिसंक्रमा च परिणामिन्यर्थे
प्रतिसंक्रान्तेव तद्वृत्तिमनुपतति) वैसा कहा भी है भोक्तृशक्ति
अपरिणामिनी अप्रतिसंक्रमा—अचल है परिणामी वस्तु में
चलायमान परिणामवाली की भांति उसकी वृत्ति का अनुपतन

करती है (तस्याश्च प्राप्तचैतन्योपग्रहरूपाया बुद्धिवृत्तेरनुकार-मात्रतया बुद्धिवृत्त्यविशिष्टा हि ज्ञानवृत्तिरित्याख्यायते) और चैतन्य धर्म को प्राप्त रहना ही स्वरूप जिसका है उस ऐसी—दृक् शक्ति आत्मा का बुद्धिवृत्ति की अनुकरणमात्रता से बुद्धिवृत्ति से मिली ज्ञानवृत्ति कही जाती है। ॥ २० ॥

तदर्थ एव दृश्यस्याऽऽत्मा ॥ २१ ॥

सूत्रार्थ—(तदर्थः-एव) द्रष्टा के लिये ही (दृश्यस्य—आत्मा दृश्य का स्वरूप है।

भाष्यानु०—(दृशिरूपस्य पुरुषस्य कर्मरूपतामापन्नं दृश्य-मिति तदर्थ एव दृश्यस्याऽऽत्मा भवति स्वरूपं भवतीत्यर्थः) द्रष्टा रूप आत्मा उपयोगरूपता को प्राप्त दृश्य होता है अतएव उसके लिये ही दृश्य का आत्मा अर्थात् स्वरूप होता है (स्वरूपं तु पररूपेण प्रतिलब्धात्मकं भोगापवर्गार्थतायां कृतायां पुरुषेण न दृश्यत इति) स्वरूप तो पररूप पुरुष रूप के द्वारा प्राप्तस्वरूप-वाला है भोगों की समाप्ति कर देने पर पुरुष से दृश्य नहीं होता है (स्वरूपहानादस्य नाशः प्राप्तो न तु विनश्यति) स्वरूपहान से इसका नाश हो जाता है वास्तव में विनष्ट नहीं होता है ॥ २१ ॥

अव०—(कस्मात्—) कारण कि—

कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात् ॥ २२ ॥

सूत्रार्थ—(कृतार्थं प्रति) कृतार्थ—पूरितार्थ—समाप्तप्रयोजन-वाले के प्रति दृश्य (नष्टम्—अपि) नष्ट हुआ भी (अनष्टम)

अनष्ट होता है (तदन्यसाधारणत्वात्) उसके अन्य साधारण होने से।

भाष्यानु०—(कृतार्थमेकं पुरुषं प्रति दृश्यं नष्टमपि नाशं प्राप्तमप्यनष्टं तदन्यपुरुषसाधारणत्वात्) समाप्तार्थ पुरुष के प्रति नाश को प्राप्त हुआ भी दृश्य अनष्ट होता है उसके अन्य साधारण पुरुषों के प्रति विद्यमान होने से अर्थात् दृश्य का स्वरूपतः नाश या अभाव नहीं होता है किन्तु (कुशलं पुरुषं प्रति नाशं प्राप्तमप्यकुशलान्पुरुषान्प्रति न कृतार्थमिति तेषां दृशेः कर्मविषयतामापन्नं लभत एव पररूपेणाऽऽत्मरूपमिति) कुशल पुरुष के प्रति नाश को प्राप्त होता है अकुशल पुरुषों के प्रति वह कृतार्थ नहीं उनकी दृक्शक्ति के कर्मविषयता को प्राप्त हो पररूप द्वारा स्वरूप को प्राप्त करता है (अतश्च दृग्दर्शनशक्त्योर्नित्यत्वादनादिः संयोगो व्याख्यात इति) अतः द्रष्टा दर्शन शक्तियों के नित्यत्व से अनादि संयोग कहा गया है (तथा चोक्तं—धर्मिणामनादिसंयोगाद्धर्ममात्राणामप्यनादिः संयोग इति) ऐसा कहा भी है—धर्मियों के अनादि संयोग से धर्मों का भी अनादि संयोग है ॥२२॥

अव०—(संयोगस्वरूपाभिधित्सयेदं सूत्रं प्रववृते—) संयोग के स्वरूप का वर्णन करने की इच्छा से यह सूत्र प्रवृत्त हुआ—

स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः ॥२३॥

सूत्रार्थ—(स्वस्वामिशक्त्योः) स्वशक्ति और स्वामी शक्ति के (स्वरूपोपलब्धिहेतुः) स्वरूप की उपलब्धि अर्थात् स्व के स्वत्व और स्वामी के स्वामित्व या दोनों के पारस्परिक व्यवहार का हेतु (संयोगः) संयोग है।

भाष्यानु०—(पुरुषः स्वामी दृश्येन स्वेन दर्शनार्थं सयुक्तः) पुरुष स्वामी "स्व" निज वस्तु रूप दृश्य से दर्शनार्थ संयुक्त होता है (तस्मात्संयोगाद् दृश्यस्योपलब्धिर्या स भोगः) उस संयोग से दृश्य की जो उपलब्धि है वह भोग है (या तु द्रष्टुः स्वरूपोपलब्धिः सोऽपवर्गः) जो तो द्रष्टा स्वामी--पुरुष--आत्मा के स्वरूप की उपलब्धि है वह अपवर्ग अर्थात् मोक्ष है (दर्शनकार्यावसानः संयोग इति दर्शनं वियोगस्य कारणमुक्तम्) दर्शन यथार्थ ज्ञान है अवसान-अन्त में जिसके ऐसा संयोग है अर्थात संयोग रहता है यथार्थ ज्ञान होने तक दर्शन--यथार्थ ज्ञान ही वियोग का कारण कहा है (दर्शनमदर्शनस्य प्रतिद्वन्द्वीत्यदर्शनं संयोगनिमित्तमुक्तम्) दर्शन-यथार्थ ज्ञान अदर्शन-मिथ्याज्ञान का विरोधी है अतः संयोग का कारण अदर्शन-मिथ्या ज्ञान कहा है (नात्र दर्शनं मोक्षकारणमदर्शनाभावादेव बन्धाभाव स मोक्ष इति) यहां दर्शन मोक्ष का कारण नहीं है किन्तु अदर्शन के अभाव से ही बन्धाभाव होता है वही मोक्ष है (दर्शनस्य भावे बन्धकारणस्यादर्शनस्य नाश इत्यतो दर्शनं ज्ञानं कैवल्यकारणमुक्तम्) दर्शन के होने पर बन्धन के कारण

रूप अदर्शन का नाश हो जाता है अतः दर्शन—ज्ञान कैवल्य अर्थात् मोक्ष का कारण कहा गया है।

(किंचेदमदर्शनं नाम) यह अदर्शन क्या है ? (किं गुणाना-मधिकार आहोस्विद् दृशिरूपस्य स्वामिनो दर्शितविषयस्य प्रधानचित्तस्यानुत्पादः) क्या गुणों सत्व रजः तमः गुणों का अधिकार अर्थात् प्रवृत्ति या व्यवहार अदर्शन है या कि द्रष्टा[2] आत्मारूप स्वामी के प्रति विषय दिखला चुकने वाले प्रधान चित्त का अप्रकट होना (स्वस्मिन् दृश्ये विद्यमाने यो दर्शनाभावः) जो कि स्व-दृश्य के विद्यमान रहने पर जो उसके दर्शन का अभाव है वह अदर्शन है (किमर्थ-वत्ता गुणानाम्) या[3] कि गुणों की अर्थवत्ता परिणाम सामर्थ्य अदर्शन है ? (अथाविद्या स्वचित्तेन सह निरुद्धा स्वचित्तस्यो-त्पत्तिवीजम्) अथवा[4] अविद्या अपने चित्त के साथ निरुद्ध हुई अपने चित्त के उत्पत्तिबीजरूप में रहती हुई अदर्शन है ? (किं स्थितिसंस्कारक्षये गतिसंस्काराभिव्यक्तिः) या[5] कि स्थिति-संस्कारों—शान्तसंस्कारों—प्रकृतिरूपसंस्कारों के क्षय हो जाने पर गतिसंस्कारों—चलसंस्कारों—विकृतिसंस्कारों की प्रकटता अदर्शन है ? (यत्रेदमुक्तं प्रधानं स्थित्यैव वर्तमानं विकारा-करणादप्रधानं स्यात्) जिसके सम्बन्ध में कहा है प्रधान अर्थात् प्रकृति यदि स्थितिरूप से ही वर्तमान रहे तो विकार के न करने से फिर वह प्रधान अर्थात् प्रकृति नहीं कहला सकती उससे विकार रूप हो जाना ही प्रधान या प्रकृति का काम है (तथा-

गत्यैव वर्तमानं विकारनित्यत्वादप्रधानं स्यात्) इसी प्रकार गतिरूप चलरूप से ही वर्तमान होने पर विकारनित्यता से भी वह प्रधान-प्रकृति न रहेगी (उभयथा चास्य वृत्तिः प्रधान-व्यवहारं लभते नान्यथा) दोनों प्रकार से ही 'स्थिति और गति' धर्म को लेकर कारण प्रधान या प्रकृति व्यवहार के नाम को प्राप्त होती है (कारणान्तरेष्वपि कल्पितेष्वेव समानश्चर्चः) परमाणु आदि अन्य करणों की कल्पना करने पर भी समान प्रसङ्ग है यदि वे स्थिति से रहते हैं तो भी कारण न बन सकेंगे और यदि सदा गति में हैं तो भी कारण न कहलायेंगे (दर्शन-शक्तिरेवादार्शनमित्येके 'प्रधानस्यात्मख्यापनार्था प्रवृत्तिः' इति श्रुतेः) दर्शनशक्ति[६] ज्ञानशक्ति ही अदर्शन है ऐसा कई कहते हैं क्योंकि वह प्रथम अनुचित का दर्शन—ज्ञान भोगरूप से कराती है पुनः उचित का दर्शन ज्ञान करावेगी अतः दर्शनशक्ति अद-र्शन है ऐसी श्रुति भी है कि प्रधान की अपने को दिखलाने के अर्थ प्रवृत्ति होती है अतः प्रकृति का दर्शन ही अदर्शन है (सर्व-वोध्यवोधसमर्थः प्राक्प्रवृत्तेः पुरुषो न पश्यति सर्वकार्यकरण-समर्थं दृश्यं तदा न दृश्यतेति, उभयस्याप्यदर्शनधर्म इत्येके) पुरुष अर्थात् आत्मा यद्यपि सर्ववोध्य समस्तज्ञातव्य के जानने में समर्थ है पर प्रधान की प्रवृत्ति से पूर्व नहीं देख सकता जान सकता, सब कार्य करने में समर्थ दृश्य भी उस प्रवृत्ति से पूर्व नहीं दीखता है। इस प्रकार[७] दोनों पुरुष और दृश्य का अदर्शन जो धर्म है वही अदर्शन है ऐसा कुछेक कहते हैं (तदेदं दृश्यस्य

स्वात्मभूतमपि पुरुषप्रत्ययापेक्षं दर्शनं दृश्यधर्मत्वेन भवति) इसमें यह जानने योग्य है कि दृश्य का दर्शन अर्थात् दृष्टिपथ होना जाना जाना यद्यपि उसका निजधर्म है तथापि पुरुषज्ञान की अपेक्षा से—पुरुष ज्ञान के अधीन होने के कारण ही दृश्यधर्मत्व से होता है (तथा पुरुषस्यानात्मभूतमपि दृश्यप्रत्ययापेक्षं पुरुषधर्मत्वेनेवादर्शनमवभासते) उसी प्रकार पुरुष अर्थात् आत्मा का अदर्शन निज धर्म नहीं है तो भी वह दृश्य ज्ञानापेक्षा से पुरुष धर्म का जैसा अवभासित होता है पुरुष अर्थात् आत्मा तो सदा दृष्ट है पर दृश्य के सामने रहने से वह अदृष्ट सा हो रहा है (दर्शनं ज्ञानमेवादर्शनमिति केचिदभिदधति) दर्शन जो रागादि का ज्ञान है वह अदर्शन है ऐसा कुछ कहते हैं (इत्येते शास्त्रगता विकल्पाः) ये आठ प्रकार के शास्त्रगत अदर्शन के भेद हैं (तत्र विकल्पबहुत्वमेतत्सर्वपुरुषाणां गुणानां संयोगे साधारणविषयम्) इस प्रकार अनेक भेदों में गुणों 'सत्त्व, रजः, तमः, गुणों' का संयोग होना अदर्शन है यह सब पुरुषों--प्रवक्ताओं का साधारण सार या निचोड़ है ॥२३॥

(यस्तु प्रत्यक् चेतनस्य स्वबुद्धिसंयोगः—) जो तो प्रत्यक् चेतन--अन्तरात्मा चेतना का स्वबुद्धि से संयोग है—

तस्य हेतुरविद्या ॥२४॥

सूत्रार्थ—(तस्य) उस संयोग का (हेतुः) हेतु–कारण (अविद्या) अविद्या है।

भाष्यानु०—(विपर्यासज्ञानवासनेत्यर्थः) अविद्या अर्थात

विपरीत ज्ञान की वासना (विपर्ययज्ञानवासनावासिता च न कार्यनिष्ठां पुरुषख्यातिं बुद्धिः प्राप्नोति साधिकारा पुनरावर्तते) विपरीतज्ञानवासनावासित बुद्धि कामों की निष्ठारूप पुरुषख्याति आत्मदर्शनस्थितिरूपसमाधि को नहीं प्राप्त होती है अत एव गुणों के अधिकार में हो पुनः लौटती है (सा तु पुरुषख्यातिपर्यवसानां कार्यनिष्ठां प्राप्नोति चरिताधिकारा निवृत्तदर्शना बन्धकारणाभावान्न पुनरावर्तते) और वह बुद्धि गुणाधिकार समाप्त की हुई संसार के दर्शन से निवृत्त हुई पुरुषदर्शन आत्मदर्शन तक की कार्यनिष्ठा को प्राप्त होती है और बन्धकारण के अभाव से पुनः नहीं लौटती है (अत्र कश्चित् पण्डकोपाख्यानेनोद्घाटयति-) इस विषय में कोई पण्डक के उपाख्यान से शङ्का करता है (मुग्धया भार्ययाऽभिधीयते पण्डकाऽऽर्य पुत्र, अपत्यवती मे भगिनी किमर्थं नाहमिति) मुग्ध हुई दुःखी हुई भार्या द्वारा कहा जाता है हे पण्डक आर्य ! मेरी बहन सन्तानवाली है मैं क्यों नहीं ? (स तामाह मृतस्तेऽहमपत्यमुत्पादयिष्यामीति) वह उसे बोला मैं मरकर तेरे सन्तान उत्पन्न करूंगा (तथेदं विद्यमानं ज्ञानं चित्तनिवृत्तिं न करोति विनष्टं करिष्यतीति का- प्रत्याशा) उसी प्रकार यह विद्यमान ज्ञान निवृत्ति नहीं करता है विनष्ट होकर करेगा पुनः कैसी आशा (तत्राचार्यदेशीयो वक्ति ननु न बुद्धिनिवृत्तिरेव मोक्षोऽदर्शनकारणाभावाद् बुद्धिनिवृत्तिः) आचार्य जैसा कहता है हां क्यों बुद्धि निवृत्ति ही मोक्ष है अदर्शन कारण के अभाव से बुद्धि निवृत्ति

होती है (तच्चादर्शनं बन्धकारणं दर्शनान्निवर्तते) और वह अदर्शन बन्ध का कारण दर्शन से निवृत्त हो जाता है (तत्र चित्तनिवृत्तिरेव मोक्षः किमर्थमस्थान एवास्य मतिभ्रमः) चित्त-निवृत्ति ही मोक्ष है क्योंकि इसका अस्थान में मतिभ्रम है ॥२४॥

अव०-(हेयं दुःखं हेयकारणं च संयोगाख्यं सनिमित्तमुक्तमतः परं हानं वक्तव्यम्) हेय दुःख है और हेय का कारण संयोगाख्य-संयोगनामक निमित्तसहित कहा गया है इससे आगे हान कहते हैं—

तदभावात्संयोगाभावो हानं तद् दृशेः कैवल्यम् ॥२५॥

सूत्रार्थ—(तदभावात्) उस संयोग के हेतुरूप अविद्या के अभाव से (संयोगाभावो हानम्) संयोग का अभाव हान है (तद् दृशेः कैवल्यम्) वह द्रष्टा आत्मा का कैवल्य है।

भाष्यानु० (तस्यादर्शनस्याभावाद् बुद्धिपुरुषसंयोगाभाव आत्यन्तिको बन्धनोपरम इत्यर्थः) उस अदर्शन के अभाव से बुद्धि और पुरुष के संयोग का अभाव अर्थात् सर्वथा बन्धन-रहित होना है (तद्दृशेः कैवल्यं पुरुषस्यामिश्रीभावः पुनरसंयोगो गुणैरित्यर्थः) वह द्रष्टा का कैवल्य पुरुष का अलग रहना गुणों से संयोगरहित होना (दुःखकारणनिवृत्तौ दुःखोपरमो हानं तदा स्वरूपप्रतिष्ठः पुरुष इत्युक्तम्) दुःख कारण की निवृत्ति में दुःख का उपराम हो जाना हान है उस समय स्वरूप में प्रतिष्ठावाला पुरुष—आत्मा होता है ॥ २५ ॥

अव०-(अथ हानस्य कः प्राप्त्युपाय इति) अब हान की प्राप्ति का उपाय क्या है 'यह कहा जाता है'—

विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः ॥ २६ ॥

सूत्रार्थ--(अविप्लवा) विप्लवरहित-बाधारहित निर्बाध (विवेकख्यातिः) विवेकदर्शिका निरोधसमाधि (हानोपायः) हान का उपाय है।

भाष्यानु०— (सत्त्वपुरुषान्यताप्रत्ययो विवेकख्यातिः) बुद्धि या चित्त और पुरुष अर्थात् आत्मा के अलग होने का भान ज्ञान विवेकख्याति है (सा त्वनिवृत्तमिथ्याज्ञाना प्लवते) वह तो मिथ्या ज्ञान से न निवृत्त हुई मिथ्याज्ञानसहित हुई स्खलित होजाती है ठहरती नहीं है (यदा मिथ्याज्ञानं दग्धबीजभावं वन्ध्यप्रसवं सम्पद्यते तदा विधूतक्लेशरजसः सत्त्वस्य परे वैशारद्ये परस्यां वशीकारसंज्ञायां वर्तमानस्य विवेकप्रत्ययप्रवाहो निर्मलो भवति) जब मिथ्या ज्ञान जले बीज जैसे बन्ध्या के प्रसवजैसा अथवा नष्टप्रसववाला हो जाता है उस समय नष्ट क्लेश रजवाले सत्व के उत्कृष्ट विशारदता निर्मलता में उत्कृष्ट वशीकारसंज्ञा स्वात्मवशीकारानुभवता में परवैराग्यानुभवता में वर्तमान हुए का विवेकभाव ज्ञान का प्रवाह निर्मल हो जाता है (सा विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः) वह विवेकख्याति अविप्लव हान का उपाय है (ततो मिथ्याज्ञानस्य दग्धबीजभावोपगमः पुनश्चाप्रसव इत्येप मोक्षस्य मार्गो हानस्योपाय इति) तब मिथ्या ज्ञान का दग्धबीजभाव को प्राप्त होना और पुनः न उद्भव होना यह मोक्ष का मार्ग हानोपाय है ॥ २६ ॥

तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा ॥२७॥

सूत्रार्थ—(तस्य) उसकी 'निर्बाध विवेक ख्याति को प्राप्त हुए योगी को' (सप्तधा) सात प्रकार की (प्रान्तभूमिः प्रज्ञा) उत्कृष्टभूमिवाली प्रज्ञा विशेषज्ञानधारारूप बुद्धि हो जाती है।

भाष्यानु० (तस्येति प्रत्युदितख्यातेः प्रत्याम्नायः) 'तस्य' यह पद प्रकट हो गई है ख्याति—विवेकख्याति-निरोधसमाधि जिसकी ऐसे योगी के प्रति पढ़ा गया है अर्थात् विवेकख्यातिवाले [निरोधसमाधिवाले] योगी की (सप्तधेति, अशुद्ध्यावरणमलापगमाच्चित्तस्य प्रत्ययान्तरानुत्पादे सति सप्तप्रकारैव प्रज्ञा विवेकिनो भवति) सात प्रकार की अशुद्धि के आवरणरूप मल के चले जाने पर चित्त में अन्य ज्ञान के उत्पाद अभाव हो जाने पर विवेकी योगी की सात प्रकार की प्रज्ञा हो जाती है (तद्यथा—परिज्ञातं हेयं नास्य पुनः परिज्ञेयमस्ति) जैसा कि हेय जान लिया गया अब जानने के योग्य नहीं रहा (क्षीणा हेयहेतवो न पुनरेतेषां क्षेतव्यमस्ति) क्षीण हो गये हेय के हेतु अब इनमें कोई हेतव्य त्याज्य नहीं है (साक्षात्कृतं निरोधसमाधिना हानम्) साक्षात् कर लिया है निरोध समाधि से हान-मोक्ष (भावितो विवेकख्यातिरूपो हानोपाय इति) सम्पन्न कर लिया है विवेक समाधि से हान का उपाय—मोक्ष का उपाय (एषा चतुष्टयी कार्या विमुक्तिः प्रज्ञायाः) यह प्रज्ञा की चार प्रकारवाली कार्या विमुक्ति है (चित्तविमुक्तिस्तु त्रयी) चित्त विमुक्ति तीन प्रकार

की है (चरिताधिकारा बुद्धिः) गुणाधिकारों से निवृत्त हुई बुद्धि (गुणा गिरशिखिरतटच्युता इव ग्रावाणो निरवस्थानाः स्वकारणे प्रलयाभिमुखाः सह तेनास्तं गच्छन्ति) सत्त्व, रज, तम, गुण पर्वत शिखर के तट से पतित पाषाणों की भाँति न ठहरते हुए-रिडते हुए स्वकारण में प्रलयाभिमुख उसके साथ अस्त हो जाते हैं (न चैषां प्रतिलीनानां पुनरस्त्युत्पादः प्रयोजनाभावादिति) और इन प्रतिलीन हुओं का पुनः उत्पाद नहीं है प्रयोजनाभाव से (एतस्यामवस्थायां गुणसम्बन्धातीतः स्वरूपमात्रज्योतिरमलः केवली पुरुष इति) इस अवस्था में गुण सम्बन्ध से रहित स्वरूपमात्र ज्योतिवाला निर्मल केवल पुरुष है (एतां सप्तविधां प्रान्तभूमिप्रज्ञामनुपश्यन्पुरुषः कुशल-इत्याख्यायते) इस सात प्रकार की उत्कृष्ट भूमिवाली प्रज्ञा को अनुभव करता हुआ पुरुष अर्थात् आत्मा केवल कुशल कहा जाता है (प्रतिप्रसवेऽपि चित्तस्य मुक्तः कुशल इत्येव भवति गुणातीतत्वादिति) चित्त के प्रतिप्रसव अपने कारण में लीन हो जाने पर पुरुष मुक्त कुशल ही होता है ॥२७॥

अव०—(सिद्धा भवति विवेकख्यातिर्हानोपाय इति, न च सिद्धिरन्तरेण साधनमित्येतदारभ्यते) विवेकख्याति सिद्ध की जाती है और सिद्धि विना साधन के नहीं होती इसलिये यह आरम्भ किया जाता है—

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः ॥२८॥

सूत्रार्थ—(योगाङ्गानुष्ठानात्) योगाङ्गों के अनुष्ठान से (अशुद्धिक्षये) अशुद्धि के क्षीण हो जाने पर (आविवेकख्यातेः) विवेक ख्याति पर्यन्त (ज्ञानदीप्तिः) ज्ञान की दीप्ति बढ़ती ही जाती है।

भाष्यानु०—(योगाङ्गान्यष्टावभिधायिष्यमाणानि) योगाङ्ग आठ कहे जाने वाले हैं (तेषामनुष्ठानात् पञ्चपर्वणो विपर्यस्याशुद्धिरूपस्य क्षयो नाशः) इनके सेवन से-पाञ्च पोरुओंवाले अर्थात् अविद्या अस्मिता राग द्वेष अभिनिवेश रूप पांच पोरुओं वाले अशुद्धिरूप मिथ्याज्ञान का नाश हो जाता है (तत्क्षये सम्यग्ज्ञानस्याभिव्यक्तिः) उसके क्षीण हो जाने पर सम्यग्ज्ञान की प्रकटता होती है (यथा यथा साधनान्यनुष्ठीयन्ते तथा तथा तनुत्वमशुद्धिरापद्यते) जैसे जैसे साधन अनुष्ठान में लाये जाते हैं वैसे वैसे अशुद्धि सूक्ष्मत्व हलकेपन को प्राप्त होती जाती है (यथा यथा च क्षीयते तथा तथा क्षयक्रमानुरोधिनी ज्ञानस्य दीप्ति विवर्धते) जैसे जैसे अशुद्धि क्षय को प्राप्त होती जाती है वैसे वैसे क्षय के अनुसार ज्ञान की दीप्ति बढ़ती जाती है (सा खल्वेषा विवृद्धिः प्रकर्षमनुभवत्याविवेकख्यातेः, आगुणपुरुषस्वरूपविज्ञानादित्यर्थः) वह यह वृद्धि उच्चत्व को प्राप्त होती जाती है जब तक विवेकख्याति अर्थात सत्त्व, रज, तम, गुणों और पुरुष के स्वरूप का विज्ञान हो (योगाङ्गानुष्ठानमशुद्धेर्वियोगकारणं यथा परशुश्छेद्यस्य) योगाङ्गों का अनुष्ठान अशुद्धि के वियोग का

कारण है जैसे परशु अर्थात् फरसाशस्त्र छेदने योग्य काष्ठ आदि के वियोग का कारण है (विवेकख्यातेस्तु प्राप्तिकारणं यथा धर्मः सुखस्य नान्यथाकारणम्) वह योगाङ्गानुष्ठान विवेकख्याति का प्राप्ति कारण है जैसे धर्म सुखप्राप्ति का कारण है अन्य कोई कारण नहीं है (कति चैतानि कारणानि शास्त्रे भवन्ति) कितने फिर कारण शास्त्र में होते हैं (नवैवेत ।इह, तद्यथा—) नौ ही हैं जैसा कि—

उत्पत्तिस्थित्यभिव्यक्तिविकारप्रत्ययाप्तयः ।
वियोगान्यत्वधृतयः कारणं नवधा स्मृतम् ॥ इति॥)

उत्पत्ति, स्थिति, अभिव्यक्ति, विकार, प्रत्यय, आप्ति, वियोग, अन्यत्व और धृति ये नौ प्रकार के कारण हुआ करते हैं (तत्रोत्पत्तिकारणं मनो भवति विज्ञानस्य) विज्ञान का उत्पत्तिकारण मन है (स्थितिकारणं मनसः पुरुषार्थता शरीरस्येवाहारः) मन की स्थिति का कारण पुरुषार्थ है जैसे शरीर की स्थिरता का कारण भोजन है (अभिव्यक्तिकारणं यथा रूपस्यालोकस्तथा रूपज्ञानम्) जैसे रूप की अभिव्यक्ति का कारण प्रकाश और रूपज्ञान है (विकारकारणं मनसो विषयान्तरं यथाऽग्निः पाक्यस्य) मन के विकार का कारण है विषयान्तर का सामने होना जैसे अग्नि पकने योग्य वस्तु के विकार का कारण है (प्रत्ययकारणं धूमज्ञानमग्निज्ञानस्य) प्रतीति कारण अग्निज्ञान का धूमज्ञान है (प्राप्तिकारणं योगाङ्ग नुष्ठानं विवेकख्यातेः) प्राप्ति कारण है विवेकख्याति का योगा-

ङ्गानुष्ठान (वियोगकारणं तदेवाशुद्धेः) वियोग कारण वही योगाङ्गानुष्ठान अशुद्धि का (अन्यत्वकारणं यथा सुवर्णस्य सुवर्णकारः) अन्यत्वकारण है जैसे सुवर्णकार सोने का (एवमेकस्य स्त्री प्रत्ययस्याविद्यामूढत्वे द्वेषो दुःखत्वे रागः सुखत्वे तत्त्वज्ञानं माध्यस्थ्ये) इसी प्रकार एक स्त्री बोध वाले मनुष्य के अन्यत्व का कारण मूढ़ होने में अविद्या, दुःख में द्वेष, सुख में राग और माध्यस्थ्य अर्थात् इन तीनों से रहित होने में तत्त्वज्ञान है (धृतिकारणं शरीर-मिन्द्रियाणां तानि च तस्य) धृति अर्थात् धारणा या आधारत्व का कारण शरीर है इन्द्रियों का और इन्द्रियाँ शरीर का धृति कारण है (महाभूतानि शरीराणां तानि च परस्परं सर्वेषां तैर्यग्मानुषदैवतानि च परस्परार्थित्वादित्येवं नव कारणानि) महाभूत शरीरों के धृतिकारण और वे परस्पर समस्त शरीरों के तिर्यग्योनि मनुष्यदेवताशरीर परस्परार्थी होने से नव धृति-कारण हैं (तानि च यथासम्भवं पदार्थान्तरेष्वपि योज्यम्) और वे शरीर यथासम्भव वृक्ष आदि अन्य पदार्थों में धृति के कारण हैं (योगाङ्गानुष्ठानं तु द्विधैव कारणत्वं लभत इति) योगाङ्गानुष्ठान तो दो प्रकार के कारणत्व को ही प्राप्त करता है जैसा कि कह आये हैं अशुद्धि का वियोगकारण और विवेक-ख्याति का प्राप्तिकारण ॥ २८ ॥

अव०—(तत्र योगाङ्गान्यवधार्यन्ते) योगाङ्ग दर्शाए जाते हैं—

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि ॥२६॥

सूत्रार्थ—(यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयः) यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि, (अष्टौ) आठ (अङ्गानि) अंग—योग के अंग हैं।

भाष्यानु०—(यथाक्रममेषामनुष्ठानं स्वरूपं च वक्ष्यामः) यथाक्रम इनके अनुष्ठान और स्वरूप को कहेंगे ॥२६॥

अव०—(तत्र-) उनमें--

अहिंसा सत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ॥३०॥

सूत्रार्थ—(अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः) अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह (यमाः) यम हैं।

भाष्यानु०—(तत्राहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः) उनमें अहिंसा है सब प्रकार से सब काल में सब प्राणियों में अनभिद्रोह अर्थात् अवैर--वैरत्याग (उत्तरे च यमनियमास्तन्मूलास्तत्सिद्धिपरतयैव तत्प्रतिपादनाय प्रतिपाद्यन्ते) और शेष यम, नियम अहिंसामूलक हैं अहिंसापरायण हैं उसकी सिद्धि के अर्थ ही उसके प्रतिपादन के लिये कहे जा रहे हैं (तथा चोक्तम्—स खल्वयं ब्राह्मणो यथा यथा व्रतानि बहूनि समादित्सते तथा तथा प्रमादकृतेभ्यो हिंसानिदानेभ्यो निवर्त्तमानस्तामेवावदातरूपामहिंसां करोति) वैसा कहा भी है—वह यह ब्राह्मण जैसे जैसे बहुत व्रतों को ग्रहण करना चाहता है वैसे वैसे प्रमादकृत हिंसाके कारणों से

निवृत्त होता हुआ उसी शुद्धरूप अहिंसा का पालन करता है।

(सत्यं यथार्थे वाङ्मनसे) सत्य है यथार्थ वाणी और मन का होना (यथा दृष्टं यथानुमितं तथा वाङ्मनश्चेति) जैसा इन्द्रियों से साक्षात् किया जैसा अनुमान एवं विद्या से जाना वैसा वाणी और मन होना (परत्र स्वबोधसंक्रान्तये वागुक्ता, सा यदि न वञ्चिता भ्रान्ता वा भवेदिति) दूसरे के निमित्त अपने बोध की संक्रान्ति अर्थात् संक्रमण-पहुँच के लिये वाणी बोली हुई यदि वह वञ्चित भ्रान्त–ज्ञानप्राप्ति में अयोग्य न हो (एषा सर्वभूतोपकारार्थं प्रवृत्ता न भूतोपघाताय) यह सब प्राणियों के उपकारार्थ प्रवृत्त हुई न कि प्राणियों के हनन के लिये (यदि चैवमप्यभिधीयमाना भूतोपघातपरैव स्यान्न सत्यं भवेत्पापमेव भवेत्तेन पुण्याभासेन पुण्यप्रतिरूपकेण कष्टं तमः प्राप्नुयात्) और यदि इस प्रकार कही हुई वाणी प्राणिहनन करने वाली होजावे वह सत्य नहीं पाप ही है उस पुण्यछाया पुण्यजैसे वचन से वहुत कष्ट प्राप्त करे (तस्मात परीक्ष्य सर्वभूतहितं सत्यं ब्रूयात्) इसलिये परीक्षण करके-सोचसमझकर सब प्राणियों के हितकर सत्य बोले।

(स्तेयमशास्त्रपूर्वकं द्रव्याणां परतः स्वीकरणं तत्प्रतिषेधः पुनरस्पृहारूपमस्तेयमिति) शास्त्रवर्जित दूसरे से द्रव्यों का लेना स्तेय है उसका प्रतिषेध और अस्पृहारूप अस्तेय है। (ब्रह्मचर्यं गुप्तेन्द्रियस्योपस्थस्य संयमः) गुप्त इन्द्रिय उपस्थ का संयम ब्रह्मचर्य है (विषयाणामर्जनरक्षणक्षयसङ्गहिंसादोष-

दर्शनादस्वीकरणमपरिग्रह इत्येते यमाः) विषयों के संग्रह-रक्षण-क्षय-सङ्ग-हिंसा दोषों के देखने से स्वीकार न करना अपरिग्रह कहलाता है, बस ये यम हैं ॥३०॥

अव०—(ते तु) वे तो—

जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम् ॥३१॥

सूत्रार्थ—(जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः) जाति देश काल समय से अनवच्छिन्न—अप्रतिबद्ध (सार्वभौमाः) सार्व-भौम (महाव्रतम्) महाव्रत कहलाते हैं।

भाष्यानु०—(तत्राहिंसा जात्यवच्छिन्ना मत्स्यवधकस्य मत्स्येष्वेव नान्यत्र हिंसा) उन में अहिंसा जातियुक्त--मछली-मार की मछलियों में ही हिंसा करूंगा अन्यत्र नहीं (सैव देशावच्छिन्ना न तीर्थे हनिष्यामीति) वह ही देश से युक्त-तीर्थ में न मारूंगा (सैव कालावच्छिन्ना न चतुर्दश्यां न पुण्येऽहनि हनिष्यामीति) वही काल से युक्त-न चतुर्दशी में न पुण्यदिन में मारूंगा (सैव त्रिभिरुपरतस्य समया-वच्छिन्ना देवब्राह्मणार्थे नान्यथा हनिष्यामीति) वह ही तीनों से उपरत हुए की समय अर्थात् अवसर से युक्त-देव ब्राह्मण के लिये मारूंगा अन्यत्र हनन नहीं करूंगा (यथा क्षत्रियाणां युद्ध एव हिंसा नान्यत्रेति) जैसे क्षत्रियों की युद्ध में ही हिंसा होती है अन्यत्र नहीं (एभिर्जातिदेशकाल-समयैरनवच्छिन्ना अहिंसादयः सर्वथैव परिपालनीयाः) इन जाति, देश, काल, समयों से विशेष स्वतन्त्र अहिंसा आदि का

सर्वथा परिपालन करना चाहिये (सर्वभूमिषु सर्वविषयेषु सर्वथैवाविदितव्यभिचाराः सार्वभौमा महाव्रतमित्युच्यन्ते) सब भूमियों में सारे विषयों में सर्वथा ही जिनका हेर फेर प्रसिद्ध न हो वे सार्वभौम महाव्रत हैं ॥३१॥

शौचसन्तोषतपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥३२॥

सूत्रार्थ—(शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वप्रणिधानानि) शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान, (नियमाः) नियम हैं।

भाष्यानु०—(तत्र शौचं मृज्जलादिजनितं मेध्याभ्यवहरणादि च बाह्यम) उनमें शौच मिट्टी जल आदि से हुई और पवित्रकारक शरीर मल बाहिर निकालने वाले औषधोपचार यह बाह्य शौच हुआ (आभ्यन्तरं चित्तमलानामाक्षालनम्) चित्त के मलों को हटाना भीतरी शौच है (सन्तोषः सन्निहितसाधनादधिकस्यानुपादित्सा) उपस्थित साधन से अधिक न ग्रहण करने की इच्छा सन्तोष है (तपो द्वन्द्वसहनम्) द्वन्द्व सहन करना तप है (द्वन्द्वाश्च जिघत्सापिपासे शीतोष्णे स्थानासने काष्ठमौनाकारमौने च) और द्वन्द्व है भूख-प्यास, शीत-उष्ण, स्थान-आसन, काष्ठ-मौन, और आकारमौन (व्रतानि चैषां यथायोगं कृच्छ्रचान्द्रायणसान्तपनादीनि) और व्रत भी इन के यथायोग्य कृछ्र चान्द्रायण सान्तपन आदि (स्वाध्यायो मोक्षशास्त्राणामध्ययनं प्रणवजपो वा) मोक्षशास्त्रों का अध्ययन और प्रणवजप स्वाध्याय है (ईश्वरप्रणिधानं

तस्मिन्परमगुरौ सर्वकर्मार्पणम्) ईश्वरप्रणिधान है उस परम-गुरु परमेश्वर में सब कर्मों को अर्पण करना।

[शय्यासनस्थोऽथ पथि व्रजन्वा
स्वस्थः परिक्षीणवितर्कजालः ॥
संसारबीजक्षयमीक्षमाणः
स्यान्नित्ययुक्तोऽमृतभोगभागी ॥]

अर्थात्—शय्या पर हो या आसन पर स्थित हो अथवा मार्ग में चलता हुआ हो स्वस्थ-अपने में स्थित संशय आदि के वितर्कजाल जिसके क्षीण हो गये हों ऐसा वह संसार के बीज को क्षय करने की इच्छा करता हुआ नित्य युक्त अमृतभोग का भागी होता है (यत्रेदमुक्तं ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमो ऽप्यन्त-रायाभावश्चेति) जिसके सम्बन्ध में "प्रत्यक्चेतनाधि गमो-ऽप्यन्तरायाभावश्च" यहसूत्र पीछे कहा गया है ॥३२॥

अव०—(एतेषां यमनियमानाम्) इन यम नियमों के—

वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम् ॥ ३३ ॥

सूत्रार्थ—(वितर्कबाधने) अहिंसा आदि के विपरीत विचारों के पुनः पुनः उत्थान के अवसर पर (प्रतिपक्षभावनम्) उल्टा पक्ष ग्रहण करना चाहिये।

भाष्यानु०—(यदाऽस्य ब्राह्मणस्य हिंसादयो वितर्का जायेरन् हनिष्याम्यपकारिणमनृतमपि वक्ष्यामि द्रव्यमप्यस्य स्वीकरी-ष्यामि दारेषु चास्य व्यवायी भविष्यामि परिग्रहेषु चास्य स्वामी भविष्यामीति) जब इस योगी के हिंसा आदि वितर्क होने लगे

कि मैं अपकारी का हनन करूंगा इसके धन को उठा लूंगा इसकी स्त्रियों में भी व्यभिचारी बनूंगा इसके संग्रहों में स्वामी बनूंगा (एवमुन्मार्गप्रवणवितर्कज्वरेणातिदीप्तेन बाध्यमानस्तत्प्रतिपक्षान्भावयेत्) इस प्रकार उन्मार्ग में झुकाने वाले अति प्रचंड वितर्कज्वर से सताया हुआ अभ्यासी प्रतिपक्षों उसके विरोधी भावनाओं का सेवन करे, कि (घोरेषु संसाराङ्गारेषु पच्यमानेन मया शरणमुपागतः सर्वभूताभयप्रदानेन योगधर्मः स खल्वहं त्यक्त्वा वितर्कान्पुनस्तानाददानस्तुल्यः श्ववृत्तेनेति भावयेत्) घोरसंसाराङ्गारों में मुझ पकते हुए के द्वारा सर्वभूताभयप्रदानरूप योगधर्म शरणीभूत हुआ प्राप्त किया गया इस प्रकार वह अभ्यासी उसे छोड़कर वितर्कों को ग्रहण करता हुआ श्ववृत्त-कुत्ते के व्यवहार जैसा है ऐसी भावना करे (यथा श्वा वान्तावलेही तथा त्यक्तस्य पुनराददान इति) जैसे कुत्ता वमन को चाटने वाला होता है वैसा त्यागे हुए को पुनः ग्रहण करता हुआ मनुष्य हुआ (एवमादिसूत्रान्तरेष्वपि योज्यम्) इसी प्रकार दूसरे सूत्रों में लगाना चाहिये ॥ ३३ ॥

वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम् ॥ ३४ ॥

सूत्रार्थ—(वितर्काः) पूर्वसूत्र में जो वितर्क बाधा कही गई है वे वितर्क हैं (हिंसादयः) हिंसा आदि, जो कि (कृतकारिता-

तुमोदिताः) किये, कराये और प्रेरणा दिए हुए (लोभक्रोध-मोहपूर्वकाः) लोभक्रोधमोहपूर्वक (मृदुमध्याधिमात्राः) मृदुमध्यतीव्र भेदवाले (दुःखाज्ञानानन्तफलाः) दुःख अज्ञान अनन्त फल वाले (इति) इस लिये (प्रतिपक्षभावनम्) उनके प्रतिपक्ष का विचार करना चाहिये ।

भाष्यानु०—(तत्र हिंसा तावत्-कृताकारितऽनुमोदितेति त्रिधा) उनमें हिंसा कृत-की गई, कारित—कराई गई, अनुमोदित, स्वीकारीदी हुई-प्रेरणा दी हुई । ऐसे तीन प्रकार की हुई (एकैका पुनस्त्रिधा लोभेन मांसचर्मार्थेन क्रोधेनापकृतमनेनेति मोहेन धर्मो मे भविष्यति-इति) एक एक तीन प्रकारकी लोभसे-मांस और चमड़ेके लोभसे क्रोधसे-इसने अपकार किया इसलिये, मोह सेमुझे धर्म होगा (लोभक्रोधमोहाः पुनस्त्रिविधामृदुमध्याधिमात्रा इति) लोभ, क्रोध, मोह भी तीन प्रकार के मृदु, मध्य, अधिमात्र अर्थात् तीव्र (एवं सप्तविंशति भेदा भवन्ति हिंसायाः) इस प्रकार सत्ताईस भेद होते हैं हिंसा के (मृदुमध्याधिमात्राः पुनस्त्रिधा मृदुमृदुर्मध्यमृदुस्तीव्रमृदुरिति तथा मृदुमध्यो मध्यमध्यस्तीव्रमध्य. इति तथा मृदुतीव्रो मध्यतीव्रोऽधिमात्रतीव्र इति एवमेकाशीतिभेदा हिंसा भवति) मृदु, मध्य, अधिमात्र के भी तीन प्रकार हैं—मृदु मृदु, मध्यमृदु, तीव्रमृदु, तथा मृदुमध्य, मध्यमध्य, तीव्रमध्य तथा मृदुतीव्र, मध्यतीव्र, अधिमात्रतीव्र इस रीति से इक्यासी भेद वाली हिंसा हुई (सा पुन-

नियमविकल्पसमुच्चयभेदादसंख्येया प्राणभृद्भेदस्यापरिसं-ख्येयत्वादिति) वह फिर नियम विकल्प समुच्चय के भेद से असंख्य हो जाती है जीवभेद के अगण्य होने से (एवमनृतादिष्वपि योज्यम्) इसी प्रकार असत्य आदि में भी लगा लेना चाहिये (ते खल्वमी वितर्का दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम्) वे ये वितर्क दुःखानन्तफल वाले और अज्ञानानन्तफलवाले हैं इस प्रकार प्रतिपक्षभावना करनी चाहिये (दुःखमज्ञानं चानन्तं फलं येषामिति प्रतिपक्षभावनम्) दुःख अज्ञान अनन्तफल जिसका है इस प्रकार प्रतिपक्ष भावना करनी चाहिये (तथा च हिंसकस्तावत्प्रथमं वध्यस्य वीर्य-माक्षिपति) तथा हिंसक प्रथम वध जिसका करता है उसके बल छुड़ा लेने वाले प्रयत्न को टांगों आदि के बांध जूड़ने से समाप्त करता है—स्ववश करता है (ततश्च शस्त्रादिनिपातेन दुःखयति) फिर शस्त्र आदि को उसकी गरदन पर रखकर दुःख देता है (ततो जीवितादपि मोचयति) तब जीवन से भी अलग कर देता है (ततो वीर्याक्षेपादस्य चेतनाचेतनमुपकरणं क्षीणवीर्यं भवति) बल प्रयत्न के नष्ट कर देने से इसकी ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ बल से क्षीण प्राणों से विहीन हो जाती हैं (दुःखोत्पादान्नरकतिर्यक्प्रेतादिषु दुःखमनुभवति) दुःख के उत्पादन से नरक, तिर्यक्, प्रेत आदि में दुःख अनुभव करता है (जीवितव्यपरोपणात्प्रतिक्षणं च जीवितात्यये वर्तमानो मरणमिच्छन्नपि दुःखविपाकस्य नियतविपाकवेदनीयत्वात्कथ-

च्छिदेवोच्छ्वसिति) जीवन नाश कर देने पर प्रतिक्षण जीवन-नाश में वर्तमान हुआ मरण चाहता हुआ भी दुःखरूप फल के नियतफल के अनुभव होने से किसी प्रकार श्वास लेता है (यदि च कथंचित्पुण्यावापगता हिंसा भवेत्तत्र सुखप्राप्तौ भवेदल्पायुरिति) और यदि किसी प्रकार पुण्य में आवाप होकर बीज बनकर हिंसा रहे तो सुखप्राप्ति में थोड़ी आयु होगी (एवमनृतादिष्वपि योऽयं यथासम्भवम्) इसी प्रकार असत्य आदि में भी यथासंभव योजना कर लेनी चाहिये (एवं वितर्काणां चामुमेवानुगतविपाकमनिष्टं भावयन्न वितर्केषु मनः प्रणिदधीत) इस प्रकार उसी अनुगत अनिष्ट फल का विचार करता हुआ वितर्कों--प्रतिकूल अनाचरणीय बातों में मन न लगाए ॥ ३४ ॥

(प्रतिपक्षभावनाद्धेतोर्हेया वितर्का यदाऽस्य स्युरप्रसवधर्माणस्तदा तत्कृतमैश्वर्यं योगिनः सिद्धिसूचकं भवति तद्यथा—) प्रतिपक्षभावना के कारण वितर्क छोड़ने योग्य जब इस के प्रसवधर्म रहित हो जावें तब उसके द्वारा किया गया ऐश्वर्य योगी का सिद्धिसूचक होता है जैसा कि—

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैरत्यागः ॥३५॥

सूत्रार्थ—(अहिंसाप्रतिष्ठायाम्) अहिंसा की प्रतिष्ठा में (तत्सन्निधौ) उसके समीप (वैरत्यागः) वैर त्याग हो जाता है।

भाष्यानु०-(सर्वप्राणिनां भवति) सब प्राणियों का वैर-त्याग हो जाता है ॥३५॥

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ॥३६॥

सूत्रार्थ—(सत्यप्रतिष्ठायाम्) सत्य की प्रतिष्ठा में (क्रियाफलाश्रयत्वम्) क्रियाफल का आश्रयत्व होजाता है।

भाष्यानु०—(धार्मिको भूया इति भवति धार्मिकः, स्वर्गं प्राप्नुहीति स्वर्गं प्राप्नोति, अमोघाऽस्य वाग्भवति)। धार्मिक हो जा इतने कहने पर धार्मिक हो जाता है, स्वर्ग को प्राप्त कर इतने पर ही स्वर्ग को प्राप्त हो जाता है इस प्रकार इसकी वाणी अन्यर्थ—यथार्थ हो जाती है ॥३६॥

अस्तेयप्रष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् ॥३७॥

सूत्रार्थ—(अस्तेयप्रतिष्ठायाम्) अस्तेय की प्रतिष्ठा में (सर्वरत्नोपस्थातम्) सब रत्न–उत्तम पदार्थ प्राप्त रहते हैं।

भाष्यानु०—(सर्वादिक्स्थान्यस्योपतिष्ठन्ते रत्नानि) इसकी समस्त दिशाओं में रत्न उपस्थित हो जाते हैं ॥३७॥

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ॥३८॥

सूत्रार्थ—(ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायाम्) ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठा में (वीर्यलाभः) ओजबल का लाभ होता है।

भाष्यानु०—(यस्य लाभादप्रतिघान्गुणानुत्कर्षयति) जिसके लाभ से न दबाए जाने—न नष्ट होने वाले गुणों की वृद्धि करता है ॥३८॥

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासंबोधः ॥३९॥

सूत्रार्थ—(अपरिग्रहस्थैर्ये) अपरिग्रह के स्थिर होने पर

(जन्मकथन्तासंबोधः) जन्म कैसे और क्यों है इत्यादि बोध होता है।

भाष्यानु०—(अस्य भवति) इसको होता है (कोऽहमासं कथमासं कथं स्विदिदं के वा भविष्यामः कथं वा भविष्यामः) मैं कौन था, कैसे था, यह क्या है, हम कौन होंगे, कैसे होंगे (इत्येवमस्य पूर्वापरान्तमध्येष्वात्मभावजिज्ञासा स्वरूपेणोपावर्तते) इस प्रकार इससे पहिले पीछे तथा मध्य में आत्मस्वरूप को जानने की इच्छा स्वतः प्रकट हो जाती है (एता यमस्थैर्ये सिद्धयः) ये यम की स्थिरता में सिद्धियाँ हैं ॥३६॥

अव०—(नियमेषु वक्ष्यामः) नियमों के सम्बन्ध में सिद्धियां कहेंगे।

शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः ॥४०॥

(सूत्रार्थ—(शौचात्) शौच से (स्वाङ्गजुगुप्सा) अपने अंगों में निन्दा-घृणा-ग्लानि होजाती है (परैः-असंसर्गः) दूसरों के अंगों शरीरों से संसर्गरहित होने का भाव उत्पन्न हो जाता है।

भाष्यानु०—(स्वाङ्गे जुगुप्सायां शौचमारम्भाणः कायावद्य-दर्शी कायानभिष्वङ्गी यतिर्भवति) अपने अंग अर्थात् शरीर में निन्दा घृणा ग्लानि के दूर करने के हेतु शुद्धि करता हुआ शरीर के निन्दनीयत्व या दोष को देखने वाला बनकर शरीर-राग से रहित यति हो जाता है (किं च परैरसंसर्गः काय-स्वभावालोकी-एवमपि कायं जिज्ञासुर्मृज्जलादिभिराक्षालयन्नपि

कायशुद्धिमपश्यन् कथं परकायैरत्यन्तमेवाप्रयतैः संसृज्येत)
और भी दूसरों से संसर्ग नहीं रखता काया के स्वभाव को
देखने वाला वह जिज्ञासु अपनी काया को भी मिट्टी जल आदि
से शोधता हुआ भो शरीरशुद्धि को न देख अर्थात् शरीर को
अशुद्ध देख कैसे शुद्धि में अत्यन्त ही यत्नरहित अन्य देह के
साथ संसर्ग करे ॥४०॥

अव०—(किं च) और भी—

सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च ॥४१॥

सूत्रार्थ—(च) और (सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि) सत्त्वशुद्धि--मन की शुद्धि, सौमनस्य मन की प्रसन्नता, ऐकाग्र्य--एकाग्रता. इन्द्रियजय--इन्द्रियसंयमता; आत्मदर्शनयोग्यत्व--आत्मदर्शन की योग्यता भी उसकी हो जाती है ।

भाष्यानु०—(भवन्तीति वाक्यशेषः) ये सब उसके हो जाती हैं यह वाक्य का शेष है (शुचेः सत्त्वशुद्धिस्ततः सौमनस्यं तत ऐकाग्र्यं तत इन्द्रियजयस्ततश्चात्मदर्शनयोग्यत्वं बुद्धिसत्त्वस्य भवतीत्येतच्छौचस्थैर्यादधिगम्यत इति) शौच से मन की शुद्धि होती है उसमें सुमनस्ता उससे एकाग्रता उससे इन्द्रियजय--संयम और उससे आत्मदर्शन की योग्यता बुद्धिपदार्थ में आ जाती है यह सब शौच की स्थिरता से प्राप्त होता है ॥४१॥

सन्तोषादनुत्तमः सुखलाभः ॥४२॥

सूत्रार्थ—(सन्तोषात) सन्तोष से (अनुत्तमः) जिससे उत्तम न हो ऐसा सर्वोत्तम (सुखलाभः) सुख का लाभ होता है।

भाष्यानु०—(तथा चोक्तम्) ऐसा कहा भी है—

(यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्। इति॥)

अर्थात संसार में जो भी कामसुख-विषयसुख है और जो भी दिव्यसुख है यह सब तृष्णाक्षय—वासनाक्षयरूप सुख के सोलहवीं कला के भी समान नहीं है ॥४२॥

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात् तपसः ॥४३॥

सूत्रार्थ—(तपसः) तप से (अशुद्धिक्षयात्) अविद्या आदि अशुद्धि क्षीण हो जाती हैं जिससे (कायेन्द्रियसिद्धिः) काया और इन्द्रियों की सिद्धि स्वाधीनता आदि हो जाती है।

भाष्यानु०—(निर्वर्त्यमानमेव तपो हिनस्त्यशुद्ध्यावरणमलं तदावरणमलापगमात्कायसिद्धिरणिमाद्या) सिद्ध होता हुआ तप अशुद्धि आवरणरूप मल को नष्ट करता है उस आवरण मल के हट जाने से काया की सिद्धि अणिमा, लघिमा, गरिमा, आदि हो जाती हैं (तथेन्द्रियसिद्धिर्दूराच्छ्रवणदर्शनाद्येति) उसी प्रकार इन्द्रियसिद्धि दूर से श्रवण दर्शन आदिरूप में हो जाती हैं ॥४३॥

स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः ॥४४॥

सूत्रार्थ—(स्वाध्यायात्) स्वाध्याय से (इष्टदेवतासम्प्रयोगः)

स्वाध्याय में जो अभीष्ट देवता है उसका जीवन में अनुभव-लाभ हो जाता है।

भाष्यानु०—(देवता ऋषयः सिद्धाश्च स्वाध्यायशीलस्य दर्शनं गच्छन्ति कार्ये चास्य वर्तन्त इति) स्वाध्यायशील के देव, ऋषि, सिद्ध दर्शन को प्राप्त हो जाते हैं और इसके कार्य में वर्तते हैं ॥४४॥

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् ॥४५॥

सूत्रार्थ—(ईश्वरप्रणिधानात्) ईश्वरप्रणिधान से (समाधि-सिद्धिः) समाधि सिद्ध हो जाती है।

भाष्यानु०—(ईश्वरार्पितसर्वभावस्य समाधिसिद्धिर्यया सर्वमीप्सितमवितथं जानाति देशान्तरे देहान्तरे कालान्तरे च) ईश्वर के प्रति सर्वभावोंको जिसने अर्पित कर दिया है उस मनुष्य की समाधि सिद्ध हो जाती है क्योंकि वह सब कुछ अभीष्ट को यथावत् जानता है चाहे वह देशान्तर में हो देहान्तर में हो या कालान्तर में हो (ततोऽस्य प्रज्ञा यथाभूतं जानातीति) तब इसकी बुद्धि यथार्थवस्तु को जानती है ॥ ४५ ॥

अव०—(उक्ताः सह सिद्धिभिर्यमनियमाः आसनादीनि वक्ष्यामः । तत्र—) सिद्धियों के सहित यमनियम कह दिए, आसन आदि कहेंगे, उनमें—

स्थिरसुखमासनम् ॥४६॥

सूत्रार्थ—(स्थिरसुखम्) स्थिर अर्थात् निश्चल-शरीर का

निश्चल रूप सुख जिसमें हो वह (आसनम्) आसन है।

भाष्यानु०—(तद्यथा पद्मासनं भद्रासनं स्वस्तिकं दण्डासनं सोपाश्रयं पर्यङ्कं क्रौञ्चनिषदनं हस्तनिषदनमुष्ट्रनिषदनं समसंस्थानं स्थिरसुखं यथासुखं चेत्येवमादीनि) जैसाकि—पद्मासन, भद्रासन, स्वस्तिकासन, दण्डासन, सोपाश्रयासन—सहारे के साथ आसन, पर्यङ्कासन—पलङ्ग का आसन, क्रौञ्चासन—क्रौञ्च पक्षी के जैसा आसन, हस्तिनिषदन—हाथीजैसे बैठने का आसन, समसंस्थान, स्थिरसुखासन—जैसे ऋषि दयानन्द का आसन यथासुख आदि ॥ ४६ ॥

प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम् ॥ ४७ ॥

सूत्रार्थ—(प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम्) शारीरिक बाह्य प्रयत्न के शैथिल्य अर्थात् अभाव से और अनन्त आकाश में समापत्ति संगम करने से 'आसन' बनता है।

(भवतीति वाक्यशेषः) होता है यह 'सूत्र में' वाक्यशेष है (प्रयत्नोपरमात् सिद्ध्यत्यासनं येन नाङ्गमेजयो भवति) प्रयत्न के समाप्त हो जाने पर आसन सिद्ध होता है जिससे अङ्गमेजय-अङ्गाविक्षेप नहीं होता है (अनन्ते वा समापन्नं चित्तमासनं निर्वर्तयतीति) या अनन्त आकाश में समापन्न किया हुआ चित्त आसन को सिद्ध करता है॥ ४७ ॥

ततो द्वन्द्वानभिघातः ॥ ४८ ॥

सूत्रार्थ—(ततः) तब (द्वन्द्वानभिघातः) द्वन्द्वों शीत-उष्ण

आदि का अभिघात प्रभाव या कष्ट नहीं होता है।

भाष्यानु०—(शीतोष्णादिभिर्द्वन्द्वैरासनजयान्नाभिभूयते) आसनजय से शीत उष्ण आदि द्वन्द्वों के द्वारा सताया नहीं जाता है॥ ४८॥

तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः॥४९॥

सूत्रार्थ-(तस्मिन् सति) उस आसन के लगजाने पर (श्वासप्रश्वासयोः) श्वासप्रश्वासों की (गतिविच्छेदः) गति का बन्द होना (प्राणायामः) प्राणायाम है।

भाष्यानु०-(सत्यासनजये बाह्यस्य वायोराचमनं श्वासः कौष्ठ्यस्य वायोर्निःसारणं प्रश्वासः, तयोर्गतिविच्छेद उभयाभावः प्राणायामः) आसनजय हो जाने पर बाह्य वायु का लेना श्वास और अन्दर के वायु का निकालना प्रश्वास उनकी गति का रोकना प्राणा याम है॥४९॥

अव०—(स तु—) वह तो—

बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः ॥५०॥

सूत्रार्थ—(बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिः) बाह्यवृत्ति, आभ्यन्तरवृत्ति, स्तम्भवृत्ति प्रणायाम (देशकालसंख्याभिः) देश, काल, संख्या के साथ (परिदृष्टः) अभ्यास में लाया हुआ (दीर्घसूक्ष्मः) दीर्घसूक्ष्म होता है।

भाष्यानु०—(यः प्रश्वासपूर्वको गत्यभावः स बाह्यः) जहां प्रश्वासपूर्वक-बाहर निकाल कर गति का अभाव है वह बाह्य

प्राणायाम है (यत्र श्वासपूर्वको गत्यभावः स आभ्यन्तरः) जहां श्वासपूर्वक—अन्दर लेकर गति का अभाव करना है वह आभ्यन्तर प्राणायाम है (तृतीयः स्तम्भवृत्तिर्यत्रोभयाभावः सकृत्प्रयत्नाद् भवति) तीसरा स्तम्भवृत्ति प्राणायाम है जहां दोनों का अभाव एक बार प्रयत्न से होता है (यथा तप्ते न्यस्तमुपले जलं सर्वतः संकोचमापद्यते तथा द्वयोर्युगपद्गत्यभाव इति) जैसे तप्त पत्थर पर डाला जल सब ओर से संकुचित हो जाता है उसी प्रकार दोनों का एकदम अभाव है (त्रयोऽप्येते देशेन परिदृष्टा इयानस्य विषयो देश इति) तीनों ही ये देश से परिदृष्ट इतना इसका देश नासिका से चार, आठ, बारह, सोलह, अंगुल दूर बाहिर वा अन्दर (कालेन परिदृष्टाः क्षणानामियत्तावधारणेनावच्छिन्ना इत्यर्थः) काल से परिदृष्ट क्षणकी इयत्ता-मर्यादा निश्चय करने से सीमित (संख्याभिः परिदृष्ट एतावद्भिः श्वासप्रश्वसैः प्रथम उद्घातस्तन्निगृहीतस्यैतावद्भिर्द्वितीय उद्घात एवं तृतीयः) संख्याओं से परिदृष्ट इतने श्वास प्रश्वासों से प्रथम प्राणायाम उस निगृहीत किए हुए का इतने श्वासप्रश्वासों से दूसरा एवं इतने से तीसरा (एवं मृदुरेवं मध्यम एवं तीव्र इति संख्यापरिदृष्टः) इस प्रकार मृदु ऐसे ही मध्यम ऐसे तीव्र संख्या से परिदृष्ट कहलाता है (स खल्वयमभ्यस्तो दीर्घसूक्ष्मः) वह यह अभ्यस्त किया हुआ दीर्घसूक्ष्म हो जाता है ॥५०॥

बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः ॥५१॥

सूत्रार्थ—(बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी) बाह्य और आभ्यन्तर

विषय का आक्षेप करने वाला (चतुर्थः) चतुर्थ प्राणायाम है।

भाष्यानु०—(देशकालसंख्याभिर्बाह्यविषयपरिदृष्ट आक्षिप्तः, तथाऽऽभ्यन्तरविषयपरिदृष्ट आक्षिप्तः) देश काल संख्या से बाह्य विषय परिदृष्ट आक्षिप्त–पुनः पुनः धकेला हुआ और आभ्यान्तर विषयपरिदृष्ट आक्षिप्त–पुनः पुनः धकेला हुआ (उभयथा दीर्घसूक्ष्मः) दोनों भी दीर्घसूक्ष्म (तत्पूर्वको भूमिजयात्क्रमेणो-भयगत्यभावश्चतुर्थः प्राणायामः) उन दोनों के सहित भूमिजय के क्रम से दोनों की गति का अभाव चतुर्थ प्राणायाम है (तृतीय-स्तु विषयानालोचितो गत्यभावः सकृदारब्ध एव देशकाल-संख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः) तृतीय प्राणायाम तो बाह्य अभ्यन्तर विषय का ध्यान न रखते हुए उनकी गति का अभाव एक दम किया हुआ देश काल संख्या से अभ्यस्त दीर्घसूक्ष्म होता है (चतुर्थस्तु श्वासप्रश्वासयोर्विषयावधारणात् क्रमेण भूमिजया-दुभयाक्षेपपूर्वको गत्यभावश्चतुर्थः प्राणायाम इत्ययं विशेष इति) श्वासप्रश्वास के विषय के निश्चय से क्रमशः भूमिजय से दोनों आक्षेपपूर्वक गति का अभाव चतुर्थ प्राणायाम है यह विशेष है ॥५१॥

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ॥५२॥

सूत्रार्थ०—(ततः) उस प्राणायाम के अभ्यास से (प्रकाशा-वरणम्) प्रकाश–ज्ञानप्रकाश का आवरण (क्षीयते) क्षीण हो जाता है।

भाष्यानु०—(प्राणायामानभ्यस्यतोऽस्य योगिनः क्षीयते

विवेकज्ञानावरणीयं कर्म) प्राणायामों का अभ्यास करते हुए इस योगी का विवेकज्ञान को आवृत करने योग्य कर्म क्षीण हो जाता है (यत्तदाचक्षते-महामोहमयेनेन्द्रजालेन प्रकाशशीलं सत्त्वमावृत्य तदेवाकार्ये नियुङ्क्त इति) जिसे कहते हैं-महामोहमय इन्द्रजाल से प्रकाशशील सत्त्व को आवृत करके वही अकार्य में नियुक्त करता है (तदस्य प्रकाशावरणं कर्म संसारनिबन्धनं प्राणायामाभ्यासाद् दुर्बलं भवति प्रतिक्षणं च क्षीयते) वह इसका प्रकाश को आवृत करने वाला कर्म संसार में बांधने का कारण प्राणायामाभ्यास से दुर्बल होता है और प्रतिक्षण क्षीण होता है (तथा चोक्तम्—"तपो न परं प्राणायामात् ततो विशुद्धिर्मलानां दीप्तिश्च ज्ञानस्य" इति) वैसे कहा है—तप प्राणायाम से बढ़कर नहीं है उससे मलों की विशुद्धि और ज्ञान की दीप्ति होती है ॥५२॥

अवतरण—(किं च-) और क्या—

धारणासु योग्यता मनसः॥ ५३॥

सूत्रार्थ—(धारणासु) धारणाओं में (मनसः) मन की योग्यता) योग्यता हो जाती है।

भाष्यानु०—(प्राणायामाभ्यासादेव) प्राणायामाभ्यास से मन की धारणाओं में योग्यता हो जाती है, ('प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य" इति वचनात्) "प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य" इस वचन से जो कि पीछे प्रथमपाद सूत्र कह आए हैं ॥५३॥

अवतरण—(अथ कः प्रत्याहारः) अब प्रत्याहार क्या है—

स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ॥५४॥

सूत्रार्थ—(इन्द्रियाणां स्वविषयासम्प्रयोगे) इन्द्रियों के अपने विषयों से हट जाने पर (चित्तस्वरूपानुकारः—इव) चित्तस्वरूप के अनुरूप हो जाना (प्रत्याहारः) प्रत्याहार है।

भाष्यानु०—(स्वविषयसम्प्रयोगाभावे चित्तस्वरूपानुकार इवेति चित्तनिरोधे चित्तवन्निरुद्धानीन्द्रियाणि नेतरेन्द्रियजयवदुपायान्तरनपेक्षन्ते) अपने विषय के सेवन को छोड़ देने पर चित्तस्वरूप के अनुरूप हो जाना चित्तनिरोध के हो जाने पर चित्त के समान इन्द्रियां भी निरुद्ध हो जाती हैं किसी एक इन्द्रियजय के समान अन्य उपाय की आवश्यकता नहीं रखती हैं (यथा मधुकरराजानं मक्षिका उत्पतन्तमनूत्पतन्ति निविशमानमनुनिविशन्ते तथेन्द्रियाणि चित्तनिरोधे निरुद्धानीत्येष प्रत्याहारः) जैसे मधु बनाने वाले उड़ते हुए राजा के साथ मक्खियां भी उड़ जाती हैं और बैठने पर बैठ जाती हैं वैसे ही इन्द्रियाँ चित्त निरोध हो जाने पर निरुद्ध हो जाती हैं बस यह प्रत्याहार है ॥५४॥

ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम् ॥५५॥

सूत्रार्थ—(ततः) फिर (इन्द्रियाणाम्) इन्द्रियों की (परमा वश्यता) अत्यन्त-वश्यता--वशीकारता-स्वाधीनता हो जाती है।

भाष्यानु०—(शब्दादिष्वव्यसनमिन्द्रियजय इति केचित्) शब्दादि विषयों में अव्यसन--लगाव न होना इन्द्रियजय है ऐसा कुछ एक कहते हैं (सक्तिर्व्यसनं व्यस्यत्येनं श्रेयस इति) व्यसन सक्ति अर्थात् लगाव को कहते हैं इसे अर्थात् अभ्यासी को श्रेयस् से गिराता है (अविरुद्धा प्रतिपत्तिर्न्याय्या) अप्रतिकूल सिद्धि कहना उचित है (शब्दादिसम्प्रयोगः स्वेच्छयेत्यन्ये) शब्द आदि का सेवन स्वेच्छा से न कि विषयों के बल से होना ऐसा अन्य कहते हैं (रागद्वेषाभावे-सुखदुःखशून्यं शब्दादिज्ञानमिन्द्रियजय इति केचित्) राग द्वेष का अभाव हो जाने पर सुख दुःख से रहित हो शब्द आदि का ज्ञान होना इन्द्रियजय है ऐसा कुछ कहते हैं (चित्तैकाग्र्यादप्रतिपत्तिरेवेति जैगीषव्यः) चित की एकाग्रता से विषयों में प्रवृत्ति न होना इन्द्रियजय है ऐसा जैगीषव्य मुनि कहते हैं (ततश्च परमा त्वियं वश्यता यच्चित्तनिरोधे निरुद्धानीन्द्रियाणि नेतरेन्द्रियजयवत्प्रयत्नकृतमुपायान्तरमपेक्षन्ते योगिन इति) फिर यह परमा वश्यता है जो चित्तनिरोध होने पर इन्द्रियां निरुद्ध हो जाती हैं अन्य इन्द्रियजय के प्रयत्न जैसा किसी दूसरे उपाय की अपेक्षा योगी नहीं करते हैं ॥५५॥

इति द्वितीयः पादः ।

तृतीय पाद

अवतरण—(उक्तानि पञ्चबहिरङ्गाणि साधनानि धारणा वक्तव्या) पांच बहिरङ्ग योग के आठ अङ्गों में से यम से लेकर प्रत्याहार पर्यन्त पांच बाहिरी अङ्ग कह दिए हैं, धारणा कहनी है।—

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ॥१॥

सूत्रार्थ—(चित्तस्य) चित्त का (देशबन्धः) देश में बान्धना लगाना (धारणा) धारणा है।

भाष्यानु०—(नाभिचक्रे हृदयपुण्डरीके मूर्ध्नि ज्योतिषि नासिकाग्रे जिह्वाग्रे इत्येवमादिषु देशेषु बाह्ये वा विषये चित्तस्य वृत्तिमात्रेण बन्ध इति धारणा) नाभिचक्र, हृदयकमल, मूर्धा, ज्योति, नासिकाग्र, जिह्वाग्र इत्यादि शारीरिक प्रदेशों में या बाहरी विषय में चित्त का वृत्तिमात्र से बन्ध अर्थात् बान्धना—लगाना—स्थिर करना धारणा है ॥१॥

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ॥२॥

सूत्रार्थ—(तत्र) धारणा में चित्त को जिस देश में लगाया गया हो—रखा हो उस देश में (प्रत्ययैकतानता) प्रतीति की एकप्रवाहता (ध्यानम्) ध्यान है।

भाष्यानु०—(तस्मिन्देशे ध्येयालम्बनस्य प्रत्ययैकतानता सदृशः प्रवाहः प्रत्ययान्तरेणापरामृष्टो ध्यानम्) उस देश में धारणा जहां लगाई है वहां ध्येय अर्थात् ध्यानयोग्य वस्तु के आश्रय की एकरस प्रतीति या प्रतीति का एकरससमानप्रवाह किसी दूसरी प्रतीति से रहित ध्यान है ॥२॥

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ॥३॥

सूत्रार्थ—(तत्-एव) वह ध्यान ही (अर्थमात्रनिर्भासम्) वस्तुमात्र का प्रतीत होना सम्मुख होना (स्वरूपशून्यमिव) अपने रूप की शून्यता जैसा भान होना (समाधिः) समाधि है।

भाष्यानु०—(ध्यानमेव ध्येयाकारनिर्भासं प्रत्ययात्मकेन स्वरूपेण शून्यमिव यदा भवति ध्येयस्वभावावेशात्तदा समाधिरित्युच्यते) ध्यान ही ध्येयाकार प्रतीत होता हुआ ध्येय स्वभाव के आवेश से स्वरूप प्रतीति से शून्य जैसा जब होता है वह समाधि कहाती है ॥३॥

त्रयमेकत्र संयमः ॥४॥

सूत्रार्थ—(त्रयम्) धारणा, ध्यान, समाधि तीनों (एकत्र) एक देश में एक वस्तु में होना (संयमः) संयम कहाता है।

भाष्यानु०—(तदेतद्धारणाध्यानसमाधित्रयमेकत्र संयमः) वह यह धारणा, ध्यान, समाधि तीनों एकत्र होना संयम है (एकविषयाणि त्रीणि साधनानि संयम इत्युच्यते) तीनों एकविषयक होने पर संयम कहाता है (तदस्य त्रयस्य तान्त्रिकी परिभाषा संयम इति) वह तीनों की संयम शास्त्रीयपरिभाषा है ॥४॥

तज्जयात् प्रज्ञालोकः ॥५॥

सूत्रार्थ—(तज्जयात्) उस 'संयम' के जय से (प्रज्ञालोकः) प्रज्ञा का आलोक—बौद्धिक प्रकाश प्रकट हो जाता है।

भाष्यानु०—(तस्य संयमस्य जयात् समाधिप्रज्ञाया भवत्यालोको यथा यथा संयमः स्थिरपदो भवति तथा तथा समाधिप्रज्ञा विशारदी भवति) उस संयम के जय से समाधिप्रज्ञा का प्रकाश हो जाता है जैसे जैसे संयम दृढ़ होता जाता है वैसे वैसे समाधिप्रज्ञा विकसित विशुद्ध होती चली जाती है ॥५॥

तस्य भूमिषु विनियोगः ॥६॥

सूत्रार्थ—(तस्य) उस 'संयम' का (भूमिषु) भूमियों में (विनियोगः) विनियोग करना—लगाना—उपयोग लेना चाहिये।

भाष्यानु०—(तस्य संयमस्य जितभूमेर्याऽनन्तराभूमिस्तत्र विनियोगः) उस जितभूमिवाले संयम की जो समीपी अगली भूमि है उसमें विनियोग करना—लगाना-उपयोग लेना चाहिये (न ह्यजिताधरभूमिरनन्तरभूमिं विलंघ्य प्रान्तभूमिषु संयमं लभते) नीचे की या प्रथम भूमि को जीते बिना समीप की भूमि का उल्लङ्घन करके अगली सूक्ष्मभूमियों में संयम को नहीं प्राप्त होता है (तदभावाच्च कुतस्तस्य प्रज्ञालोकः) उस संयम के अभाव से कैसे उसका प्रज्ञा-आलोक हो सकता है 'यह कहते हैं' (ईश्वरप्रसादाज्जितोत्तरभूमिकस्य च नाधरभूमिषु परचित्त-

ज्ञानादिषु संयमो युक्तः) ईश्वर के प्रसाद से अगली भूमि के जीत-लेने वाले को परचितज्ञान आदि अधर भूमियों में संयम करना युक्त नहीं है (कस्मात्-तदर्थस्यान्यत एवावगतत्वात्) कारण कि उस विषय के अन्य रूप 'ईश्वर प्रसाद' से ही प्राप्ति या बोध हो जाने के कारण (भूमेरस्या इयमनन्तराभूमिरित्यत्र योग एवोपाध्यायः) इस भूमि की समीपी अगली भूमि यह है इस विषय में योग ही शिक्षक है (कथम्- एवं ह्युक्तम्) कारण कि, ऐसे ही कहा है—

(योगो योगेन ज्ञातव्यो योगो योगात् प्रवर्तते ।
योऽप्रमत्तस्तु योगेन स योगे रमते चिरम् ।।इति)

अर्थात् योग योग से जानने योग्य है योग योग से बढ़ता है जो योग से सावधान हो गया है वह योग में देर तक रमण करता है ।। ६ ।।

त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः ।। ७ ।।

सूत्रार्थ— (त्रयम्) धारणा, ध्यान, समाधि ये तीनों (पूर्वेभ्यः) पूर्व यम से लेकर प्रत्याहार पर्यन्त पाँचों योगाङ्गों की अपेक्षा से (अन्तरङ्गम्) अन्तरङ्ग है ।

भाष्यानु०— (तदेतद्धारणाध्यानसमाधित्रयमन्तरङ्गं सम्प्रज्ञातस्य समाधेः पूर्वेभ्यो यमादिभ्यः पंचभ्यः साधनेभ्य इति) यह धारणा ध्यान समाधि तीनों पूर्व पांच यमादि साधनों की अपेक्षा से सम्प्रज्ञात समाधि के अन्तरङ्ग हैं ।। ७ ।।

तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य ॥ ८ ॥

सूत्रार्थ—(तत्-अपि) वह धारणा ध्यान समाधि अङ्ग-त्रय (निर्बीजस्य) निर्बीज समाधि के (बहिरङ्गम्) बहिरङ्ग-बाहरी अङ्ग हैं और निर्बीज समाधि अन्तरङ्ग है।

भाष्यानु०— (तदप्यन्तरङ्गं साधनत्रयं निर्बीजस्य योगस्य बहिरङ्गं भवति) वह भी धारणा ध्यान समाधि रूप तीनों साधन निर्बीज योग का बहिरङ्ग बाहिरी अंग है (कस्मात्-तदभावे भावादिति) क्योंकि उसके धारणा ध्यान एकाग्र समाधि के अभाव हो जाने पर निर्बीज योग होता है ॥ ८ ॥

अव०—(अथ निरोधचित्तक्षणेषु चलं गुणवृत्तमिति कीदृशस्तदा चित्तपरिणामः) अब निरोध चित्त के क्षणों में गुणों का व्यवहार चल अर्थात् परिणामवाला होता है तब चित्त का परिणाम कैसा होता है—

व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ
निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः ॥ ९ ॥

सूत्रार्थ— (व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोः) व्युत्थानसंस्कारों और निरोधसंस्कारों का क्रमशः (अभिभवप्रादुर्भावौ) अभिभव और प्रादुर्भाव होता है अर्थात् व्युत्थानसंस्कारों का अभिभव-दब जाना और निरोधसंस्कारों का प्रादुर्भाव-प्रकट हो जाना होता है अत एव (निरोधक्षणचित्तान्वयः) निरोधक्षणवाले चित्तके अनुरूप (निरोधपरिणामः) निरोध परिणाम होता है।

भाष्यानु०—(व्युत्थानसंस्काराश्चित्तधर्मा न ते प्रत्ययात्मका इति प्रत्ययनिरोधे न निरुद्धा निरोधसंस्कारा अपि चित्तधर्मास्तयोरभिभवप्रादुर्भावौ व्युत्थानसंस्कारा हीयन्ते निरोधसंस्कारा आधीयन्ते) व्युत्थानसंस्कार चित्तधर्म हैं वे प्रतीतिरूप नहीं हैं प्रतीतियों के निरोध पर निरुद्ध नहीं होते, निरोध संस्कार भी चित्तधर्म हैं उन दोनों का अभिभव और प्रादुर्भाव होता है व्युत्थानसंस्कार क्षीण हो जाते हैं और निरोधसंस्कार प्रकट होते हैं (निरोधक्षणं चित्तमन्वेति तदेकस्य चित्तस्य प्रतिक्षणमिदं संस्कारान्यथात्वं निरोधपरिणामः) निरोधक्षण चित्त को प्राप्त होता है वह एक चित्त का प्रतिक्षण संस्कारों का अन्यथात्व निरोधपरिणाम है (तथा संस्कारशेषं चित्तमिति निरोधसमाधौ व्याख्यातम्) तथा संस्कारशेष चित्त है निरोध समाधि में कहा गया है ॥९॥

तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात् ॥१०॥

सूत्रार्थ—(तस्य) उस 'चित्त' की (संस्कारात्) संस्कार से (प्रशान्तवाहिता) प्रशान्तवाहिता स्थिति होती है।

भाष्यानु०—(निरोधसंस्काराभ्यासपाटवापेक्षाप्रशान्तवाहिता चित्तस्य भवति) निरोधसंस्काराभ्यासों की कुशलता के अनुसार चित्त की प्रशान्तवाहिता स्थिति होती है (तत्संस्कारमान्द्ये व्युत्थानधर्मिणा संस्कारेण निरोधधर्मसंस्कारोऽभिभूयत इति) उन संस्कारों की मन्दता में व्युत्थानधर्मी संस्कार से निरोध संस्कार दब जाता है ॥१०॥

सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य
समाधिपरिणामः ॥११॥

सूत्रार्थ—(सर्वार्थतैकाग्रतयोः) सर्वार्थता और एकाग्रता का क्रमशः (क्षयोदयौ) क्षीण हो जाना और आविर्भाव हो जाना (चित्तस्य) चित्त का (समाधिपरिणामः) समाधि परिणामहै।

भाष्यानु०—(सर्वार्थता चित्तधर्मः एकाग्रताऽपि चित्तधर्मः) सर्वार्थता चित्त का धर्म है और एकाग्रता भी चित्त का धर्म है (सर्वार्थतायाः क्षयस्तिरोभाव इत्यर्थः) सर्वार्थता का क्षय अर्थात् तिरोभाव दब जाना (एकाग्रताया उदय आविर्भावः) एकाग्रता का उदय अर्थात् आविर्भाव है (तयो धर्मित्वेनानुगतं चित्तं तदिदं चित्तमपायोपजनयोः स्वात्मभूतयो धर्मयोरनुगतं समाधीयते स चित्तस्य समाधिपरिणामः) उन दोनों सर्वार्थता एकाग्रताभूत दोनों धर्मों में धर्मीरूप से चित्त अनुगत है वह यह चित्त उन अपने धर्मों के नाश और उदय से अनुगत हो अर्थात् सर्वार्थतारूप धर्म के नाश और एकाग्रतारूप धर्म के उदय से युक्त हो समाधि को प्राप्त हो जाता है यह चित्त का समाधि-परिणाम है॥११॥

ततः पुनः शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रता
परिणामः ॥१२॥

सूत्रार्थ—(ततः पुनः) उसके पश्चात् एकाग्रता के (शान्तो-

दितौ) शान्त और उदित प्रत्यय (चित्तस्य) चित्त के (एकाग्रता-परिणामः) एकाग्रता के परिणाम हैं।

भाष्यानु०-(समाहितचित्तस्य पूर्वप्रत्ययः शान्त उत्तरस्तत्सदृश उदितः) समाहितचित्त का पूर्व प्रत्यय शान्त हो जाता है और अगला उस जैसा उदित हो जाता है (समाधिचित्तमुभयोरनुगतं पुनस्तथैवासमाधिभ्रेषादिति) समाधि चित्त दोनों में अनुगत होता है यह क्रम चलता रहता है जब तक समाधि भ्रंश हो (स खल्वयं धर्मिणश्चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः) वह यह धर्मी जो चित्त है उसका एकाग्रता परिणाम है॥१२॥

एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः ॥१३॥

सूत्रार्थ—(एतेन) इससे (भूतेन्द्रियेषु) भूतों और इन्द्रियों में (धर्मलक्षणावस्थापरिणामाः) धर्म, लक्षण और अवस्था के परिणाम (व्याख्याताः) व्याख्या किये गये जानने चाहियें।

भाष्यानु०—(एतेन पूर्वोक्तेन चित्तपरिणामेन धर्मलक्षणावस्थारूपेण भूतेन्द्रियेषु धर्मपरिणामो लक्षणपरिणामोऽवस्थापरिणामश्चोक्तो वेदितव्यः) इससे पूर्वोक्त धर्म-लक्षण-अवस्थारूप चित्तपरिणाम से भूतों और इन्द्रियों के अन्दर धर्मपरिणाम लक्षणपरिणाम अवस्थापरिणाम कहा गया समझना चाहिए (तत्र व्युत्थाननिरोधयोरभिभवप्रादुर्भावौ धर्मिणि धर्मपरिणामः) उनमें व्युत्थान और निरोध का क्रमशः अभिभव और प्रादुर्भाव धर्मी में धर्मपरिणाम है (लक्षणपरिणामश्च-निरोधस्त्रि-

लक्षणस्त्रिभिरध्वभिर्युक्तः) और लक्षणपरिणाम भी—निरोध तीन लक्षणोंवाला है-तीन मार्गों से युक्त है (स खल्वनागत-लक्षणमध्वानं प्रथमं हित्वा धर्मत्वमनतिक्रान्तो वर्तमानलक्षणं प्रतिपन्नः) वह अनागत अर्थात् भविष्यलक्षणरूप प्रथम मार्ग को छोड़कर धर्मभाव को न त्यागता हुआ वर्तमान लक्षणरूप को प्राप्त हुआ (यत्रास्य स्वरूपेणाभिव्यक्तिः, एषोऽस्य द्वितीयोऽध्वा) जिसमें इसके स्वरूप की प्रकटता होती है वह इसका द्वितीय मार्ग है (न चातीतानागताभ्यां लक्षणाभ्यां वियुक्तः) और यह वर्तमानलक्षणरूप मार्ग अतीत और भविष्य लक्षणों से वियुक्त नहीं है।

(तथा व्युत्थानं त्रिलक्षणं त्रिभिरध्वभिर्युक्तं वर्तमानलक्षणं हित्वा धर्मत्वमनतिक्रान्तमतीतलक्षणं प्रतिपन्नम्) तथा व्युत्थान तीन लक्षणोंवाला है तीन भागों से युक्त है वर्तमान लक्षण को छोड़कर धर्मत्व को न त्यागा हुआ अतीतलक्षणरूप परिणाम को प्राप्त हुआ (एषोऽस्य तृतीयोऽध्वा) यह इसका तृतीय मार्ग है (न चानागतवर्त्तमानाभ्यां लक्षणाभ्यां वियुक्तम्) अनागत और वर्त्तमान लक्षणों से वियुक्त नहीं है (एवं पुनर्व्युत्थानमुपसंपद्यमानमनागतलक्षणं हित्वा धर्मत्वमनतिक्रान्तं वर्त्तमानलक्षणं प्रतिपन्नम्) इसी प्रकार फिर व्युत्थान प्राप्त करता हुआ अनागत लक्षण को छोड़कर धर्मत्व को न त्यागता हुआ वर्त्तमान लक्षण को प्राप्त होता है (यत्रास्य रूपाभिव्यक्तौ सत्यां व्यापारः) जहां कि इसके रूपाभिव्यक्ति में व्यापार है(एषोऽस्य-

द्वितीयोऽध्वा) यह इसका दूसरा मार्ग है (न चातीतानागताभ्यां वियुक्तमिति) अतीत अनागत लक्षणों से वियुक्त नहीं है (एवं पुनर्निरोध एवं पुनर्व्युत्थानमिति) इस प्रकार फिर निरोध और फिर व्युत्थान।

(तथाऽवस्थापरिणामः—तत्र निरोधक्षणेषु निरोधसंस्कारा बलवन्तो भवन्ति दुर्बला व्युत्थानसंस्कारा इति) तथा अवस्था-परिणाम—उन निरोधक्षणों में निरोधसंस्कार बलवान् होते हैं और व्युत्थान संस्कार दुर्बल (एष धर्माणामवस्थापरिणामः) यह धर्मों का अवस्थापरिणाम है (तत्र धर्मिणो धर्मैः परिणामो धर्माणां त्र्यध्वनां लक्षणैः परिणामो लक्षणानामप्यवस्थाभिः परिणाम इति) उसमें धर्मी का धर्मों के द्वारा परिणाम, तीन मार्गों वाले धर्मों का लक्षणों के द्वारा परिणाम, लक्षणों का भी अवस्थाओं के द्वारा परिणाम होता है (एवं धर्मलक्षणावस्था-परिणामैः शून्यं न क्षणमपि गुणवृत्तमवतिष्ठते) इस प्रकार धर्म लक्षण अवस्था रूप परिणामों से शून्य गुणवृत्त—गुणों का व्यवहार क्षणभर भी नहीं रह सकता (चलं च गुणवृत्तम्) गुणवृत्त—गुणों का प्रवर्त्तमान होना चल है (गुणस्वाभाव्यं तु प्रवृत्तिकारणमुक्तं गुणानामिति) गुणों का स्वभाव तो गुणों की प्रवृत्ति का कारण कहा है (एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मधर्मिभेदात्-त्रिविधः परिणामो वेदितव्यः) इससे भूतों और इन्द्रियों में धर्म और धर्मी के भेद से तीन प्रकार का परिणाम जानना चाहिये।

(परमार्थतस्त्वेक एव परिणामः) वास्तव में परिणाम तो

एक ही है (धर्मिस्वरूपमात्रो हि धर्मो धर्मिविक्रियैवैषा धर्मद्वारा प्रपञ्च्यत इति) धर्मीस्वरूप मात्र ही धर्म धर्मी की विक्रिया ही यह धर्मद्वारा प्रपञ्चित होती है (तत्र धर्मस्य धर्मिणि वर्त्तमानस्यैवाध्वस्वतीतानागतवर्त्तमानेषु भावान्यथात्वं भवति न तु द्रव्यान्यथात्वम्) उसमें—धर्मी में वर्त्तमान धर्म का अतीत अनागत वर्तमान रूप मार्गों में भावों—विकारों की भिन्नता होती है न कि द्रव्य की भिन्नता (यथा सुवर्णभाजनस्य भित्त्वाऽन्यथाक्रियमाणस्य भावान्यथात्वं भवति न सुवर्णान्यथात्वमिति) जैसे सोने के पात्र को तोड़कर और कुछ किए जाते हुए का विकारभिन्नता होती है न कि सोने की भिन्नता।

(अपर आह—धर्मानभ्यधिको धर्मी पूर्वतत्त्वानतिक्रमात्) दूसरा कहता है—धर्मों से अविशेष या अपृथक् धर्मी होता है पूर्व तत्त्वोंके अतिक्रमण न होने से (पूर्वापरावस्थाभेदमनुपतितः कौटस्थ्येनैव परिवर्तेत यद्यन्वयी स्यादिति) पूर्व पश्चात् के अवस्थाभेद को अनुसरण किया हुआ ही नित्यत्व से परिवर्तित हो सके जो अन्वयी धर्मी हो।

(अयमदोषः। कस्मात्। एकान्ततानभ्युपगमात्) यह दोष नहीं है क्योंकि एकान्त के-एकदेशी सिद्धान्त के स्वीकार न होने से (तदेतत्त्रैलोक्यं व्यक्तेरपैति नित्यत्वप्रतिषेधात्) वह यह त्रैलोक्य व्यक्ति से अलग हो जाता है नित्यत्व के प्रतिषेध होने से (अपेतमप्यस्ति विनाशप्रतिषेधात्) वियुक्त हुआ भी है विनाश का प्रतिषेध न होने से (संसर्गाच्चास्य सौक्ष्म्यं, सौक्ष्म्या-

च्चानुपलब्धिरिति) संसर्ग से इसकी सूक्ष्मता है और सूक्ष्मता से उपलब्धि नहीं होती है।

(लक्षणपरिणामो धर्मोऽध्वसु वर्तमानोऽतीतोऽतीतलक्षण-युक्तोऽनागतवर्तमानाभ्यां लक्षणाभ्यामवियुक्तः) लक्षणपरि-णामवाला धर्म मार्गों में वर्तमान हुआ अतीत या अतीतलक्षण युक्त होता हुआ अनागत और वर्तमान लक्षणों से अलग नहीं होता है (तथा वर्तमानो वर्तमानलक्षणयुक्तोऽतीतानागताभ्यां लक्षणाभ्यामवियुक्त इति) इसी प्रकार वर्तमान वर्तमानलक्षणों से युक्त हुआ अतीत और अनागत लक्षणों से अलग नहीं होता (यथा पुरुष एकस्यां स्त्रियां रक्तो न शेषासु विरक्तो भवतीति) जैसे पुरुष एक स्त्री में रक्त हुआ हुआ शेष स्त्रियों में विरक्त हो ऐसा नहीं।

(अत्र लक्षणपरिणामे सर्वस्य सर्वलक्षणयोगादध्वसंकरः प्राप्नोतीति परैर्दोषश्चोद्यत इति) यहां लक्षणपरिणाम में सबका सबलक्षणों से सम्बन्ध के कारण मार्गसंकर प्राप्त होता है ऐसा किन्हीं लोगों के द्वारा आक्षेप किया जाता है (तस्य परिहारः—धर्माणां धर्मत्वमप्रसाध्यम्) उसका परिहार है— धर्मों का धर्मत्व सिद्ध नहीं किया जा सकता (सति च धर्मत्वे लक्षणभेदोऽपि वाच्यो न वर्तमानसमय एवास्य धर्मत्वम्) धर्मत्व होने पर लक्षण भेद भी बतलाना चाहिये न कि वर्तमान समय में ही उसका धर्मत्व है (एवं हि न चित्तं रागधर्मकं स्यात् क्रोधकाले रागस्यासमुदाचारादिति) इसी प्रकार चित्त रागधर्मवाला न बन सकेगा कारणकि क्रोधकाल

में राग न होने से (किंच त्रयाणां लक्षणानां युगपदे-कस्यां व्यक्तौ नास्ति संभवः) और फिर तीनों लक्षणों का एक साथ एक ही व्यक्ति में संभव भी नहीं है (क्रमेण तु स्वव्यञ्जक-काञ्जनस्य भावो भवेदिति) क्रम से तो स्वव्यञ्जक से व्यक्त होने वाला भाव अर्थात् वर्तमानत्व हो सकता है (उक्तञ्च रूपाति-शया वृत्त्यतिशया विरुध्यन्ते सामान्यानि त्वतिशयैः सह प्रवर्तन्ते) कहा भी है रुपातिशय और वृत्त्यतिशय विरुद्ध पड़ते हैं, हां ! सामान्य तो अतिशयों के साथ प्रवृत्त होते हैं (तस्मादसंकरः) इस से संकर नहीं होता है (यथा रागस्यैव क्वचित्समुदाचार इति न तदानीमन्यत्राभावः किन्तु केवलं सामा-न्येन समन्वागत इत्यस्ति तदा तत्र तस्य भावः) जैसे राग का ही कहीं प्रवर्तमान होना उस समय अन्यत्र अभाव हो ऐसा नहीं किन्तु केवल सामान्यरूप प्राप्त है अतः वहां उसका भाव है (तथा लक्षणस्य) वैसे लक्षण का भी जानें।

(न धर्मी त्र्यध्वा धर्मास्तु त्र्यध्वानस्ते लक्षिता अलक्षिता-स्तत्र लक्षितास्तां तामवस्थां प्राप्नुवन्तोऽन्यत्वेन प्रतिनिर्दिश्यन्ते ऽवस्थान्तरतो न द्रव्यान्तरतः) धर्मी तीन मार्गों वाला नहीं किन्तु धर्म तीनमार्गों वाले हैं वे लक्षित हों या अलक्षित, उनमें लक्षित उस उस अवस्था को प्राप्त होते हुए भिन्नता से दर्शाए जाते हैं अवस्थान्तर होकर या द्रव्यान्तर होकर नहीं (यथैका रेखा शतस्थाने शतं दशस्थाने दशैकं चैकस्थाने) जैसे एक रेखा सौ स्थानों में, सौ दश स्थानों में

दश एक स्थान में दर्शाई जाती है (यथा चैकत्वेऽपि स्त्री माता चोच्यते दुहिता च स्वसा चेति) और जैसे स्त्री एक है पर माता भी कही जाती है पुत्री भी और बहिन भी कही जाती है।

(अवस्थापरिणामे कौटस्थ्यप्रसङ्गदोषः कैश्चिदुक्तः) अवस्थापरिणाम में कूटस्थता के दोष का प्रसङ्ग किन्हीं ने कहा है (कथम्) कैसे ? (अध्वनो व्यापारेण व्यवहितत्वात्) मार्ग के व्यापार से छिपा होने से (यदा धर्मः स्वव्यापारं न करोति तदाऽनागतो यदा करोति तदा वर्तमानो यदा कृत्वा निवृत्तस्तदाऽतीत इत्येवं धर्मधर्मिणो लक्षणानामवस्थानां च कौटस्थ्यं प्राप्नोतीति परैर्दोष उच्यते) जब धर्म अपने व्यापार को नहीं करता है तब अनागत, जब करता है तब वर्तमान, जब करके निवृत्त होजाता है तब अतीत हो जाता है। इस प्रकार धर्म, धर्मी, लक्षणों और अवस्थाओं की कूटस्थता प्राप्त होती है यह दूसरों के द्वारा दोष बतलाया जाता है (नासौ दोषः, कस्मात् गुणिनित्यत्वेऽपि गुणानां विमर्दवैचित्र्यात्) यह दोष नहीं है; कारण कि गुणी के नित्य होने पर भी गुणों के विचित्र विमर्दन से (यथा संस्थानमादिमद्धर्ममात्रं शब्दादीनां गुणानां विनाश्यविनाशिनामेवं लिङ्गमादिमद्धर्ममात्रं सत्त्वादीनां गुणानां विनाश्यविनाशिनां तस्मिन् विकारसंज्ञेति) जैसे संस्थान अर्थात् वस्तुरूपपिण्ड या वस्तुव्यक्ति आदिमान् है शब्दादि विनाशी अविनाशी गुणों का धर्ममात्र है इसी प्रकार महत्तत्त्व भी विनाशी—अविनाशी सत्त्वरजतम गुणों का आदिमान् धर्ममात्र है बस उस की विकार संज्ञा है उसे विकार कहते हैं।

(तत्रेदमुदाहरणं मृद्धर्मी पिण्डाकाराद्धर्माद्धर्मान्तरमुपसंपद्यमानो धर्मतः परिणमते घटाकार इति) उस विषय में यह उदाहरण है पिण्डाकार धर्म से धर्मान्तर को प्राप्त होता हुआ मिट्टी-धर्मवाला घटाकार धर्म से परिणत होजाता है (घटाकारोऽनागतं लक्षणं हित्वा वर्तमानलक्षणं प्रतिपद्यत इति लक्षणतः परिणमते) घटाकर अनागतलक्षण को छोड़कर वर्तमान लक्षण को प्राप्त होता है यह लक्षण का परिणाम है (घटो नवपुराणतां प्रतिक्षणमनुभवन्नवस्थापरिणामं प्रतिपद्यत इति) घड़ा नयेपन पुरानेपन को प्रतिक्षण प्राप्त करता हुआ अवस्थापरिणाम को प्राप्त होता है (धर्मिणोऽपि धर्मान्तरमवस्था धर्मस्यापि लक्षणान्तरमवस्थेत्येक एव द्रव्यपरिणामो भेदेनोपदर्शित इति धर्मी का भी धर्मान्तर अवस्था और धर्म की भी लक्षणान्तर अवस्था यह एक ही द्रव्यपरिणाम भेद से दिखलाया है (एवं पदार्थान्तरेष्वपि योजनम) इसी प्रकार दूसरे पदार्थों में लगाना चाहिए (त एते धर्मलक्षणावस्थापरिणामा धार्मस्वरूपमनतिक्रान्ता इत्येक एव परिणामः सर्वानमून्विशेषानभिप्लवते) वे ये धर्मलक्षण अवस्थारूप परिणाम धर्मी के स्वरूप को अतिक्रान्त नहीं करते हैं यह एक परिणाम उन सब भेदों को प्राप्त करता है (अथ कोऽयं परिणामः) अब यह परिणाम क्या वस्तु है ? (अवस्थितस्य द्रव्यस्य पूर्वधर्मनिवृत्तौ धर्मान्तरोत्पत्तिः परिणाम इति) वर्तमान वस्तु के पूर्व धर्म निवृत्त हो जाने पर अन्य धर्म की उत्पत्ति ही परिणाम है ॥ १३ ॥

अन्व०—(तत्र) उनमें—

शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी ॥ १४ ॥

सूत्रार्थ—(शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती) शान्त, उदित, अव्यपदेश धर्मों का अनुसरण करने वाला (धर्मी) धर्मवान अर्थात् पदार्थ होता है।

भाष्यानु०—(योग्यतावच्छिन्ना धर्मिणः शक्तिरेव धर्मः) धर्मी की योग्यतानुसार शक्ति ही धर्म है (स च फलप्रसवभेदानुमित एकस्यान्यो ऽन्यश्च परिदृष्टः) और वह फलप्रसवभेद फल की उत्पत्ति के भेद से अनुमान किया हुआ एक का अन्य अन्य देखा गया है (तत्र वर्तमानः स्वव्यापारमनुभवन् धर्मी धर्मान्तरेभ्यः शान्तेभ्यश्चाव्यपदेश्येभ्यश्च भिद्यते) उस अवस्था में वर्तमान हुआ धर्मी अपने व्मापार को अनुभव करता हुआ प्राप्त होता हुआ शान्त—भूत, अव्यपदेश्य-भविष्यरूप दूसरे धर्मों से भिन्न होजाता है (यदा तु सामान्येन समन्वागतो भवति तदा धर्मिस्वरूपमात्रत्वात्को ऽसौ केन भिद्यते) जब तो सामान्य धर्म से संयुक्त होता है तब धर्मि-स्वरूप मात्रता से कौन किससे भिन्न किया जावे। (तत्र ये खलु धर्मिणो धर्माः-शान्ता उदिता अव्यपदेश्याश्चेति) धर्मी के जो धर्म शान्त उदित और अव्यपदेश्य हैं (तत्र शान्ता ये कृत्वा व्यापारानुपरताः सव्यापारा उदितास्ते चानागतस्य लक्षणस्य समनन्तरा वर्तमानस्यानन्तरा अतीताः) उन में शान्त वे हैं जो व्यापार करके उपरत हो गये हैं, व्यापार सहित-व्यापार में वर्तमान उदित हैं

और वे अनागत लक्षण के समीपी हैं वर्तमान के समीपी अतीत हैं (किमर्थमतीतस्यानन्तरा न भवन्ति वर्तमानाः, पूर्वपश्चिमताया अभावात्) अतीत के समीपी वर्तमान क्यों नही होते पूर्व पश्चिमता के अभाव से (यथाऽनागतवर्तमानयोः पूर्वपश्चिमता नैवमतीतस्य)जैसे अनागत और वर्तमान में पूर्वपश्चिमता होती है ऐसे अतीत की नहीं (तस्मान्नातीतस्यास्ति समनन्तरः) इससे अतीत का समीपी नहीं (तदनागत एव समनन्तरो भवति वर्तमानस्येति) इससे अनागत ही वर्तमान का समीपी होता है।

(अथाव्यपदेश्याः के)अव्यपदेश्य कौन हैं (सर्वं सर्वात्मकमिति) सब सबरूपो वाला है (यत्रोक्तम्—जलभूम्योः पारिणामिकं रसादिवैश्वरूप्यं स्थावरेषु दृष्टम्) जिसके विषय में कहा है — जलभूमि का रस आदि परिणामकृत विश्वरूपत्व स्थावरो में देखा है (तथा स्थावराणां जङ्गमेषु जङ्गमानां स्थावरेष्वित्येवं जात्यनुच्छेदेन सर्वं सर्वात्मकमिति) तथा स्थवरों का जङ्गमों में जङ्गमों का स्थावरों में इस प्रकार जाति के नष्ट न होने से।

(देशकालाकारनिमित्तापबन्धान्न खलु समानकालमात्मनामभिव्यक्तिरिति) देश, काल, आकाररूप निमित्त के अपबन्धन—प्रतिबन्ध से वस्तुओं की अभिव्यक्ति समानकाल नही है (य (एतेष्वभिव्यक्तानभिव्यक्तेषु धर्मेष्वनुपाती सामान्यविशेषात्मा सो ऽन्वयी धर्मी) जो इन अभिव्यक्त अनभिव्यक्त धर्मों में अनुगमन करता है सामान्यविशेषरूप वह अन्वयी धर्मी है (यस्य तु धर्ममात्रमेवेदं निरन्वयं तस्य भोगाभावः) जिसके मत में धर्म-

मात्र ही यह सब अनुगमन भाव से रहित है उसके मत में भोग का अभाव होगा (कस्मात्, अन्येन विज्ञानेन कृतस्य कर्मणोऽन्यत्कथं भोक्तृत्वेनाधिक्रियेत) कारण कि अन्य विज्ञान से किए कर्म का अन्य विज्ञान कैसे भोक्ता रूप से अधिकारी बने (तत्स्मृत्यभावश्च नान्यदृष्टस्य स्मरणमन्यस्यास्तीति) उसकी स्मृति का अभाव हो जावे अन्य को देखे का स्मरण अन्य को नहीं होता है (वस्तुप्रत्यभिज्ञानाच्च स्थितोऽन्वयी धर्मी यो धर्मान्यथात्वमभ्युपगतः प्रत्यभिज्ञायते) वस्तु की स्मृति से भी अन्वयी धर्मी है जो धर्मवान् वास्तविकता से स्वीकृत हुआ स्मृति में आता है (तस्मान्नेदं धर्ममात्रं निरन्वयमिति) इससे निरन्वय धर्ममात्र नहीं है किन्तु अन्वयी--धर्मी है ॥ १४ ॥

क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः ॥१५॥

सूत्रार्थ—(परिणामान्यत्वे) परिणामों की अन्यता अर्थात् भिन्नता में (हेतुः) कारण (क्रमान्यत्वम्) क्रम की अन्यता—भिन्नता है ।

भाष्यानु०—(एकस्य धर्मिण एक एव परिणाम इति प्रसक्ते क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुर्भवतीति) एक धर्मी का एक ही परिणाम होना चाहिये ऐसा प्रसङ्ग होने पर क्रम की अन्यता या भिन्नता ही परिणामों की भिन्नता का कारण है (तद्यथा चूर्णमृत्पिण्डमृद्घटमृत्कपालमृत्कणमृदिति च क्रमः) जैसाकि चूर्णमिट्टी, पिण्डमिट्टी, घड़ामिट्टी, ठीकरे मिट्टी, टूटेफूटे कणमिट्टी पांच प्रकार का क्रम मिट्टी सम्बन्धी है (यो यस्य धर्मस्य समनन्तरो

धर्मः स तस्य क्रमः) जो धर्म जिस धर्मका समीपी है वह उसका क्रम है (पिण्डः प्रच्यवते घट उपजायते इति धर्मपरिणामक्रमः) "मिट्टी का" पिण्ड अपने रूप से च्यवित होता है घड़ा उपजता है यह धर्मपरिणाम है (लक्षणपरिणामक्रमो घटस्यानागतभावाद्वर्तमानभावः क्रमः) लक्षणपरिणाम क्रम है—घड़े के अनागतभाव से वर्तमानभाव क्रम है (तथा पिण्डस्य वर्तमानभावादतीतभावः क्रमः) तथा पिण्ड के वर्तमानभाव से अतीतभाव क्रम है (नातीतस्यास्ति क्रमः) अतीत का क्रम नहीं है (कस्मात्) कारण कि (पूर्वपरतायां सत्यां समनन्तरत्वं, सा तु नास्त्यतीतस्य) पूर्वपरता होने पर ही समनन्तरता–समीपीभाव होता है सो वह अतीत का नहीं है (तस्माद् द्वयोरेव लक्षणयोः क्रमः) इस से दो लक्षणों का ही क्रम है (तथाऽवस्थापरिणामक्रमोऽपि घटस्याभिनवस्य प्रान्ते पुराणता दृश्यते) तथा अवस्थापरिणामक्रम भी नए घड़े के पश्चात् पुराणता दिखलाई पड़ती है (सा च क्षणपरम्परानुपातिना क्रमेणाभिव्यज्यमाना परां व्यक्तिमापद्यत इति) और वह क्षणपरम्परा का अनुसरण करने वाले क्रम द्वारा प्रकट होती हुई अन्य व्यक्ति को प्राप्त होती है (धर्मलक्षणाभ्यां च विशिष्टोऽयं तृतीयः परिणाम इति) धर्म और लक्षण से भिन्न यह तीसरा परिणाम है।

(त एते क्रमा धर्मधर्मिभेदे सति प्रतिलब्धस्वरूपाः) वे ये क्रम धर्म-धर्मी के भेद होने पर स्वरूप को प्राप्त हुए होते हैं (धर्मोऽपि धर्मी भवत्यन्यधर्मस्वरूपापेक्षयेति) धर्म भी धर्मी

होता है अन्य धर्म के स्वरूप की अपेक्षा से (यदा तु परमार्थतो धर्मिण्यभेदोपचारस्तद्द्वारेण स एवाभिधीयते धर्मस्तदाऽयमेकत्वेनैव क्रमः प्रत्यवभासते) जब तो परमार्थ से धर्मी में अभेद उपचार हो तो उसके द्वारा यह धर्म कहा जाता है तब यह एकत्व से क्रम प्रतिभासित होता है।

(चित्तस्य द्वये धर्मा परिदृष्टाश्चापरिदृष्टाश्च) चित्तके दो प्रकार के धर्म हैं परिदृष्ट और अपरिदृष्ट(तत्र प्रत्ययात्मकाःपरिदृष्टा वस्तुमात्रात्मका अपरिदृष्टाः) उनमें प्रतीतिरूप परिदृष्ट हैं और वस्तुमात्रस्वरूपवाले अपरि दृष्ट हैं(ते च सप्तैव भवन्त्यनुमानेन प्रापितवस्तुमात्रसद्भावाः) और वे अपरिदृष्ट सात होते हैं जिनका वस्तुरूप अनुमानद्वारा सिद्ध कराया गया होता है—

("निरोधधर्मसंस्काराः परिणामोऽथ जीवनम्।
चेष्टा शक्तिश्च चित्तस्य धर्मा दर्शनवर्जिताः" इति॥)

अर्थात् निरोध, धर्म, संस्कार, परिणाम, जीवन, चेष्टा, और शक्ति ये चित्त के धर्म दर्शनवर्जित अर्थात् अपरिदृष्ट हैं ॥१५

अव०—(अतो योगिन उपात्तसर्वसाधनस्य बुभुत्सितार्थप्रतिपत्तये संयमस्य विषय उपक्षिप्यते—) यहां से सर्वसाधनों को ग्रहण कर चुके हुए योगी के जिज्ञासित विषय की प्राप्ति के लिये संयम का विषय दिखलाया जाता है—

परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम् ॥१६॥

सूत्रार्थ—(परिणामत्रयसंयमात्) धर्म लक्षण अवस्था रूप

तीनों परिणामों के संयम से (अतीतानागतज्ञानम्) अतीत और अनागत का ज्ञान होता है।

भाष्यानु०—(धर्मलक्षणावस्थापरिणामेषु संयमाद्योगिनां भवत्यतीतानागतज्ञानम्) धर्म, लक्षण, अवस्था के परिणामों में संयम करने से योगियों को अतीत, अनागत का ज्ञान होता है (धारणाध्यानसमाधित्रयमेकत्र संयम उक्तः) धारणा, ध्यान समाधि तीनों एकत्र होने का नाम संयम है (तेन परिणामत्रयं साक्षात्क्रियमाणमतीतानागतज्ञानं तेषु सम्पादयति) इससे परिणामत्रय को साक्षात् किया जाता हुआ अतीत अनागत का ज्ञान उनमें सम्पन्न कराता है ॥१६॥

शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात्संकरस्तत्प्रविभाग-संयमात्सर्वभूतरुतज्ञानम् ॥१७॥

सूत्रार्थ—(शब्दार्थप्रत्ययानाम्) शब्द अर्थ प्रत्ययों के (इतरेतराध्यासात्) एक दूसरे के अध्यास से—एक के धर्म दूसरे में देखने से (संकरः) संकर होता है (तत्प्रविभागसंयमात्) उसके प्रविभाग में संयम करने से (सर्वभूतरुतज्ञानम्) सब प्राणियों के शब्द का ज्ञान होता है।

भाष्यानु०—(तत्र वाग् वर्णेष्वेवार्थवती) उनमें वाणी वर्णों में ही अर्थवती है (श्रोत्रं च ध्वनिपरिणाममात्रविषयम्) श्रोत्र ध्वनिपरिणाममात्रविषयवाला है (पदं पुनर्नादानुसंहारबुद्धि-निर्ग्राह्यमिति) पद नाद का अनुसरण करता हुआ बुद्धि-ग्राह्य है।

(वर्णा एकसमयासम्भवित्वात्परस्परनिरनुग्रहात्मानस्ते पदमसंस्पृश्यानुपस्थाप्याऽऽविर्भूतास्तिरोभूताश्चेति प्रत्येकमपदस्व---उच्यन्ते) वर्ण अर्थात् 'अ, क' आदि अक्षर एक समय में सबके उच्चारण का सम्भव न होने से परस्पर असंगत स्वभाव वाले पदमात्र को न छूकर—उसे उपस्थित न करके प्रकट और विनष्ट होते हुए प्रत्येक अपद रूप कहे जाते हैं (वर्णः पुनरेकैकः पदात्मा सर्वाभिधानशक्तिप्रचितः सहकारिवर्णान्तरप्रतियोगित्वाद्वैश्वरूप्यमिवापन्नः पूर्वश्चोत्तरेणोत्तरश्च पूर्वेण विशेषेऽवस्थापित इत्येवं बहवो वर्णाः क्रमानुरोधिनोऽर्थसंकेतेनावच्छिन्ना इयन्त एते सर्वाभिधानशक्तिपरिवृता गकारौकारविसर्जनीयाः सास्नादिमन्तमर्थं द्योतयन्ति) एक एक वर्ण अर्थात् अक्षर पद का आत्मा है समस्त अभिधान कथन करने की शक्ति से सयुक्त है सहकारी दूसरे वर्णों के साथ सम्बन्ध करने वाला होने से विश्वरूपता को प्राप्त हुआ जैसा है पूर्व उत्तर से उत्तर पूर्व के साथ विशेष 'आशय' में अवस्थित है इसलिये बहुत वर्ण क्रम के अनुसार अर्थ संकेत से युक्त हैं इतने ये वर्ण समस्त अभिधान शक्ति से भरपूर हुए 'ग' औ,ः' सास्ना आदि वाले वस्तु को दिखलाते हैं।

(तदेतेषामर्थसंकेतेनावच्छिन्नानामुपसंहृतध्वनिक्रमाणां य एको बुद्धिनिर्भासस्तत्पदं वाचकं वाच्यस्य संकेत्यते) इस प्रकार अर्थसंकेतों से युक्त ध्वनिक्रम का जिनमें उपसंहार किया गया है ऐसे इन वर्णों का जो एक बुद्धि से प्रतिभान है वह पद

अर्थात् वाच्य का वाचक संकेतित किया जाता है (तदेकपदमेक-बुद्धिविषय एकप्रयत्नाक्षिप्तमभागमक्रममवर्णं बौद्धमन्त्यवर्ण-प्रत्ययव्यापारोपस्थापितं परत्र प्रतिपिपादयिषया वर्णैरेवाभिधी-यमानैः श्रूयमाणैश्च श्रोतृभिरनादि वाग्व्यवहारवासनानुविद्धया लोकबुद्ध्या सिद्धवत्संप्रतिपत्त्या प्रतीयते) वह एक पद एक बुद्धि का विषय एक प्रयत्न से प्रकट 'अ' भाग 'अ' क्रम 'अ' वर्ण रूप अन्तिम वर्णज्ञान के व्यापार से उपस्थित बौद्ध–बुद्धि-स्थित भान ज्ञान दूसरे के निमित्त प्रतिपादन की इच्छा से कहे जाते और सुने जाते हुए वर्णों द्वारा श्रोताओं से अनादि वाणी-व्यवहार वासनायुक्त लोकबुद्धि से सिद्ध 'नित्य' जैसा सिद्धि से प्रतीत होता है।

(तस्य संकेतबुद्धितः प्रविभाग एतावतामेवंजातीयकोऽनुसं-हार एकस्यार्थस्य वाचक इति) उस पद का संकेत बुद्धिद्वारा प्रविभाग होता है कि इतने वर्णों का इस प्रकार का ग्राह्यरूप एक अर्थ वाचक है (संकेतस्तु पदपदार्थयोरितरेतराध्यासरूपः स्मृत्यात्मको योऽयं शब्दः सोऽयमर्थो योऽयमर्थः सोऽयं शब्द इति) संकेत तो पद और अर्थ का इतरेतर अध्यासरूप स्मृति-वाला होता है कि जो यह शब्द है सो यह अर्थ है जो यह अर्थ है सो यह शब्द है (एवमितरेतराध्यासरूपः संकेतो भवतीति) इस प्रकार इतरेतर अध्यासरूप संकेत होता है (एवमेते शब्दार्थ-प्रत्यया इतरेतराध्यासात्संकीर्णा गौरिति शब्दो गौरित्यर्थो गौरिति ज्ञानम्) इस प्रकार ये शब्द अर्थ प्रत्यय 'प्रतिभान ज्ञान' इतरे-तर अध्यास से संकीर्ण मिला हुआ गौ शब्द है गौ अर्थ है

गौ ज्ञान है (य एषां प्रविभागज्ञः स सर्ववित्) जो इनके प्रवि-भाग को जानने वाला है वह सर्ववित् सर्व प्राणिशब्द-ज्ञाता है।

(सर्वपदेषु चास्ति वाक्यशक्ति वृक्ष इत्युक्तेऽस्तीति गम्यते) सब पदों में वाक्यशक्ति है 'क्रिया सहित पद वाक्य कहलाते हैं अतः एक एक पद में क्रिया है' वृक्ष कहने पर अस्ति अर्थात है ऐसा समझा जाता है (न सत्तां पदार्थो व्यभिचरतीति) सत्ता को वस्तु उल्लङ्घन नहीं करती है (तथा न ह्यसाधना क्रियाऽस्तीति) तथा साधन अर्थात् वस्तु 'कारक रूप' के बिना क्रिया नहीं होती है।

(तथा च पचतीत्युक्ते सर्व कारकाणामाक्षेपो नियमार्थो-ऽनुवादः कर्तृकरणकर्मणां चैत्राग्नितण्डुलानामिति) तथा 'पचति' अर्थात्-पकाता है ऐसे कहने पर सब कारकों का आक्षेप अर्थात् आ जाना वा प्राप्त होना सिद्ध होता है चैत्र नामक मनुष्य-अग्नि-चावलरूप, कर्ता-करण-कर्म का नियमार्थ अनुवाद है—पुनः कथन है (दृष्टं च वाक्यार्थे पदरचनं श्रोत्रियश्छन्दोऽधीते. जीवति प्राणान् धारयति तत्र वाक्ये पदार्थाभिव्यक्तिस्ततः पदं प्रविभज्य व्याकरणीयं क्रियावाचकं कारकवाचकं वा) वाक्यार्थ में पद बनाना देखा गया है जैसे "श्रोत्रियः" पद को 'छन्दोऽधीते' छन्द पढ़ता है-वेद पढ़ने वाला इस वाक्यार्थ में पद बनाया गया है इसी प्रकार 'जीवति' पद का 'प्राणान् धारयति' प्राणों को धारण करता है इस वाक्यार्थ में पद

बताया गया है, वाक्य में पदों के अर्थ की अभिव्यक्ति होती है पुनः पद का विभाग करके साधनीय है कि क्रियावाचक है कारकवाचक है (अन्यथा भवत्यश्वोऽजापय इत्येवमादिषु नामाख्यातसारूप्यादनिर्ज्ञातं कथं क्रियायां कारके वा व्याक्रियेतेति) अन्यथा 'भवति, अश्वः, अजापयः' इन पदों में नाम और आख्यात अर्थात् क्रिया का समान रूप होने से अज्ञात पद को कैसे क्रिया में या कारक में साध सकें क्योंकि उक्त उदाहरण में 'भवति' 'अश्वः' अजापयः' प्रत्येक पद क्रियावाचक भी है और कारकवाचक भी है—नाम वाचक भी है 'भवति' क्रिया वाचक है 'घटो भवति' घड़ा होता है 'भवति' नाम वाचक 'भवति भिक्षां देहि' हे श्रीमती जी भिक्षा दे 'अश्वः' क्रियावाचक है 'त्वम्-अश्वः' तू गया या तूने श्वास लिया, नामवाचक 'अश्वः चलति' घोड़ा चलता है 'अजापयः' क्रिया वाचक है 'त्वम्-अजापयः-शत्रून्' तू शत्रुओं को जितवाता—हराता है नामवाचक 'अजापयः पिब' तू बकरी का दूध पी।

(तेषां शब्दार्थप्रत्ययानां प्रविभागः) उन शब्द–अर्थ-प्रत्यय का प्रविभाग दिखलाते हैं (तद्यथा श्वेतते प्रासादः, इति क्रियार्थः श्वेतः प्रासाद इति कारकार्थः शब्दः' क्रियाकारकात्मा तदर्थः प्रत्ययश्च) जैसा कि महल श्वेत हो रहा है यहां क्रियार्थ और महल श्वेत है यहां कारकार्थ शब्द है, क्रियारूप कारकरूप उसका अर्थ है और प्रत्यय उस अर्थ का क्रियारूप, और कारकरूप भी जिसके अर्थ—निमित्त हो वह प्रत्यय है (कस्मात्

कोऽयमित्यभिसम्बन्धादेकाकार एव प्रत्ययः सङ्केत इति) कारण कि वह यह ऐसे सम्बन्ध से एक आकारवाला ही प्रत्यय संकेत है।

(यस्तु श्वेतोऽर्थः स शब्दप्रत्यययोरालम्बनीभूतः) जो तो श्वेत अर्थ है वह शब्द और प्रत्यय का आलम्बनी भूत है— आश्रयीभूत है (स हि स्वाभिरवस्थाभिर्विक्रियमाणो न शब्दसङ्गतो न बुद्धिसङ्गतः) वह ही अपनी अवस्थाओं से विक्रियमाण होता हुआ—विकारता को प्राप्त होता हुआ शब्द के साथ प्राप्त है न कि प्रत्यय के साथ प्राप्त है (एवं शब्द एवं प्रत्ययो नेतरेतरसहगत इत्यन्यथा शब्दोऽन्यथाऽर्थोऽन्यथा प्रत्यय इति विभागः) ऐसा शब्द ऐसा प्रत्यय है एक दूसरे से मिला हुआ नहीं है अतः शब्द भिन्न है अर्थ भिन्न है प्रत्यय भिन्न है यह विभाग है (एवं तत्प्रविभागसंयमाद् योगिनः सर्वभूतरुतज्ञानं सम्पद्यत इति) इस प्रकार उनके प्रविभाग में संयम करने से योगी का सब प्राणियों की बोली का ज्ञान हो जाता है *॥१७॥

संस्कारसाक्षात्करणात् पूर्वजातिज्ञानम् ।१८॥

सूत्रार्थ—(संस्कारसाक्षात्करणात्—) संस्कारों के साक्षात करने से (पूर्वजातिज्ञानम्) पूर्वजन्म का ज्ञान हो जाता है।

भाष्यानु०—(द्वये खल्वमी संस्काराः स्मृतिक्लेशहेतवो वासनारूपा विपाकहेतवो धर्माधर्मरूपाः) ये संस्कार दो प्रकार के हैं–'प्रथम' स्मृति एवम् अविद्या आदि क्लेशों के कारण-

* इस सूत्र में भाषाविज्ञान दर्शाया है।

भूत वासनारूप और 'दूसरे' सुख दुःखफल के कारणभूत धर्माधर्मरूप हैं (ते पूर्वभवाभिसंस्कृताः परिणामचेष्टानिरोधशक्ति-जीवनधर्मवदपरिदृष्टाश्चित्तधर्माः) वे पूर्वजन्मसञ्चित हुए परिणाम-चेष्टा-निरोध-शक्ति-जीवन-धर्म के समान अपरिदृष्ट चित्तधर्म हैं (तेषु संयमः संस्कारसाक्षात्करणात् क्रियायै समर्थः) उन में संयम करना साक्षात् क्रिया के लिये समर्थ है (न च देशकालनिमित्तानुभवैर्विना तेषामस्ति साक्षात्करणम्) और देश काल निमित्त अनुभव के विना इनका साक्षात्कार नहीं हो सकता (तदित्थं संस्कारसाक्षात्करणात पूर्वजातिज्ञानमुत्पद्यते योगिनः) इस से योगी को इस प्रकार संस्कारसाक्षात् करने से पूर्व जन्म का ज्ञान उत्पन्न हो जाता है (परत्राप्येवमेव संस्कारसाक्षात्करणात् परजातिसंवेदनम्) दूसरे में भी इसी प्रकार संस्कारसाक्षात् करने से दूसरे के जन्म का अनुभव हो जाता है (अत्रेदमाख्यानं श्रूयते- भगवतो जैगीषव्यस्य संस्कारसाक्षात्करणाद् दशसु महासर्गेषु जन्मपरिणामक्रममनुपश्यतो विवेकजं ज्ञानं प्रादुरभूत्) इस विषय में यह कथानक सुना जाता है--भगवान् जैगीषव्य को संस्कार साक्षात् करने से दश महासर्गों में हुए जन्म परिणाम क्रम को अनुभव करते हुए विवेकज ज्ञान प्रकट हुआ अथ भगवानावट्यस्तनुधर उवाच-दशसु महासर्गेषु भव्यत्वादनभिभूतबुद्धिसत्त्वेन त्वया नरकतिर्यग्गर्भसंभवं दुःखं सम्पश्यता देवमनुष्येषु पुनः पुनरुत्पद्यमानेन सुख-

दुःखयोः किमधिकमुपलब्धमिति) अनन्तर जैगीषव्य को भगवान् तनुधर आवट्य बोला कि दश महासर्गों में भव्य होने से न दबाए जाने योग्य बुद्धिसत्त्ववाले तथा नरक तिर्यक् गर्भ से होने वाले दुःख को देखते हुए देवों मनुष्यों में पुनः पुनः उत्पन्न होते हुए तूने सुख दुःख से अधिक क्या प्राप्त किया ? (भगवन्तमावट्यं जैगीषव्य उवाच दशसु महासर्गेषु भव्यत्वादनभिभूतबुद्धिसत्त्वेन मयानरकतिर्यग्भवं दुःखं पश्यता देव—मनुष्येषु पुनः पुनरुत्पद्यमानेन यत्किञ्चिदनुभूतं तत्सर्वं दुःखमेव प्रत्यवैमि) भगवान् आवट्य को जैगीषव्य ने उत्तर दिया-दश महासर्गों में भव्य होने से न दबाए जानेयोग्य बुद्धिसत्त्व वाले उस ऐसे तथा नरक तिर्यक् में होने वाले दुःख को देखते हुए और देवों मनुष्यों में पुनः पुनः उत्पन्न होते हुए मैंने जो कुछ अनुभव किया उस सब को दुःख ही समझता हूं (भगवानावट्य उवाच—यदिदमायुष्मतः प्रधानवशित्वमनुत्तमं च सन्तोषसुखं किमिदमपि दुःखपक्षे निक्षिप्तमिति) भगवान् आवट्य ने पूछा—जो यह आयुष्मान् आप का प्रधानवशित्व प्रकृति पर स्वामित्वरूप अत्युत्तम सन्तोष सुख है क्या इसे भी दुःख पक्ष में डाला है ? (भगवान् जैगीषव्य उवाच विषयसुखापेक्षमेवेदमुत्तमं सन्तोषसुखमुक्तम्) भगवान् जैगीषव्यबोला-विषय सुख की अपेक्षा से ही यह अत्युत्तम सन्तोष सुख कहा गया है (कैवल्यसुखापेक्षया दुःखमेव) कैवल्यसुख-मोक्षसुख की अपेक्षा से वह भी दुःख ही है (बुद्धिसत्त्वस्यायं धर्मस्त्रिगुण-

स्त्रिगुणश्च प्रत्ययो हेयपक्षे न्यस्त इति) बुद्धिसत्त्व का यह त्रिगुण धर्म है और त्रिगुण प्रतिभान ज्ञान हेयपक्ष में डाला है (दुःखरूपस्तृष्णातन्तुः तृष्णादुःखसन्तापापगमात्तु प्रसन्नमबाधं सर्वानुकूलं सुखमित्युक्तमिति) तृष्णातन्तु दुःखरूप है तृष्णादुःखसन्ताप के हट जाने से सर्वानुकूल प्रसन्न विकसित बाधारहित या निर्बाध यह सुख कहा है ॥१८॥

प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम् ॥१९॥

सूत्रार्थ—(प्रत्ययस्य) प्रत्यय अर्थात प्रतिभानज्ञान—दूसरे के वाहिरी आभास ज्ञान का संयम करने से (परचित्तज्ञानम्) दूसरे के चित्त का ज्ञान हो जाता है अर्थात् वाहिरी आकृति के भान ज्ञान में संयम करने से योगी दूसरे के मन का व्यवहार जान सकता है कि उसके मन में क्या है क्या उसमें गुण दोष है इत्यादि 'यह आकृतिविज्ञान की बात हैं'।

भाष्यानु०—(प्रत्ययसंयमात् प्रत्ययस्य साक्षात्करणात् ततः परचित्तज्ञानम्) प्रत्यय में संयम से प्रतिभान ज्ञान का साक्षात् करने से दूसरे के चित्त का ज्ञान हो जाता है ॥१९॥

न च तत्साधनं तस्याविषयीभूतत्वात् ॥२०॥

सूत्रार्थ—(तत्साधनम्) दूसरे का चित्त साधन (न च) नहीं होसकता है (तस्य--अविषयीभूतत्वात्) उसके अविषय होने से—परचित्त को विषय नहीं बनाया जा सकता अतः पूर्वसूत्र में परचित्त—ज्ञानके लिए परचित्त में संयम करना न

कहकर प्रत्यय—परप्रत्यय में संयम करना कहा गया है।

भाष्यानु०—(रक्तं प्रत्ययं जानात्यमुष्मिन्नालम्बने रक्तमिति न जानाति) रागयुक्त प्रत्यय को जानता है किन्तु अमुक आलम्बन में रक्त है यह नहीं जानता है (परप्रत्ययस्य यदालम्बनं तद्योगिचित्तेन नालम्बनीकृतं परप्रत्ययमात्रं तु योगिचित्तस्यालम्बनीभूतमिति) परप्रत्यय का जो आलम्बन है वह योगी के चित्त से आलम्बन में नहीं आया है परप्रत्ययमात्र तो योगी के चित्त से आलम्बनीभूत है अतः परप्रत्यय ही में संयम होता है॥२०॥

कायरूपसंयमात् तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुष्प्रकाशासम्प्रयोगेऽन्तर्धानम् ॥२१॥

सूत्रार्थ—(कायरूपसंयमात्) देह के रूप में संयम करने से (तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे) उसकी ग्राह्यशक्ति—रूपग्राह्यशक्ति स्तम्भन हो जाने पर (चक्षुष्प्रकाशासम्प्रयोगे) नेत्र प्रकाश के प्रयोग में न आने पर (अन्तर्धानम्) अन्तर्धान हो जाता है।

भाष्यानु०—(कायस्य रूपे संयमाद् रूपस्य या ग्राह्यशक्तिस्तां प्रतिष्टम्नाति) देह के रूप में संयम करने से रूप की जो ग्रहण करने योग्य शक्ति है उसे स्तम्भित करता है (ग्राह्यशक्तिस्तम्भे सति चक्षुष्प्रकाशासम्प्रयोगेऽन्तर्धानमुत्पद्यते योगिनः) ग्राह्यशक्ति के स्तम्भित होने पर नेत्रप्रकाश के प्रयोग न हो सकने से योगी का अन्तर्धान बन जाता है (एतेन शब्दाद्यन्तर्धानमुक्तं वेदितव्यम्) इस से शब्द आदि का अन्तर्धान भी कहा जानना चाहिये ॥२१॥

सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म तत्संयमादपरान्तज्ञानम-रिष्टेभ्यो वा ॥२२॥

सूत्रार्थ—(कर्म सोपक्रमं निरुपक्रमं च) कर्म सोपक्रम और निरुपक्रम होता है (तत्संयमात्) उस में संयम करने से (अपरान्तज्ञानम्) मृत्यु का ज्ञान हो जाता है (अरिष्टेभ्यो वा) अरिष्टों--आयुर्वेद शास्त्रोक्त मरणचिन्हों से भी मृत्यु का ज्ञान हो जाता है।

भाष्यानु०—(आयुर्विपाकं कर्म द्विविधं सोपक्रमं निरुपक्रमं च) आयु फल देने वाला कर्म दो प्रकार का है वह सोपक्रम और निरुपक्रम है (तत्र यथाऽऽर्द्रं वस्त्रं वितानितं लघीयसा कालेन शुष्येत् तथा सोपक्रमम्) उनमें जैसे गीला-वस्त्र फैलाया हुआ हो तो थोड़े समय से ही सूख जावे ऐसा शीघ्र फल देने वाला कर्म सोपक्रम है (यथा च तदेव सम्पिण्डितं चिरेण संशुष्येदेवं निरुपक्रमम्) और जैसे वह ही वस्त्र लपेटा हुआ गड्डी बना हुआ देर से सूखता है ऐसा देर में फल लाने वाला कर्म निरुपक्रम होता है (यथा वाऽग्निः शुष्के कक्षे मुक्तो वातेन समन्ततो युक्तः क्षेपीयसा कालेन दहेत् तथा सोपक्रमम्) अथवा जैसे अग्नि सूखे ईंधन के ढेर में डाला हुआ वायुद्वारा सब ओर से युक्त थोड़े काल से ही जला दे ऐसा शीघ्रफलदायक कर्म सोपक्रम है (यथा वा स एवाग्निस्तृणराशौ क्रमशोऽवयवेषु न्यस्तश्चिरेण दहेत्तथा निरुपक्रमम्) अथवा जैसे वह ही अग्नि तृणराशि में क्रमशः अवयवों में डाला हुआ देर से जलावे ऐसा निरुपक्रम है

(तदेकभविकमायुष्करं कर्म द्विविधं सोपक्रमं निरुपक्रमं च) वह एक जन्म में फलदायक आयुदेनेवाला कर्म दो प्रकार का सोपक्रम और निरुपक्रम है (तत्संयमादपरान्तस्य-प्रायणस्य ज्ञानम्) उसके संयम से अपरान्त अर्थात् मृत्यु का ज्ञान होता है।

(अरिष्टेभ्यो वेति) या अरिष्टों से भी मृत्यु का ज्ञान होता है (त्रिविधमरिष्टमाध्यात्मिकमाधिभौतिकमाधिदैविकं चेति) तीन प्रकार के अरिष्ट होते हैं—आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक (तत्राध्यात्मिकं घोषं स्वदेहे पिहितकर्णो न शृणोति ज्योति र्वा नेत्रेऽवष्टब्धे न पश्यति) उनमें आध्यात्मिक है अपने देह में घोषनाद को कान बन्द करने पर नहीं सुनता है या आंखों के दबाने पर ज्योति को नहीं देखता है (तथाधिभौतिकं यमपुरुषान् पश्यति पितृनतीतानकस्मात् पश्यति) तथा आधिभौतिक अरिष्ट है—यमपुरुषों कल्पितमारक पुरुषों को देखता है मरे हुए अपने सम्बन्धियों को देखता है (तथाऽऽधिदैविकं स्वर्गमकस्मात् सिद्धान् वा पश्यति विपरीतं सर्वं वेति) और आधिदैविक—अकस्मात् स्वर्ग को या सिद्धों को देखता है या सब कुछ विपरीत देखता है (अनेन वा जानात्यपरान्तमुपस्थितमिति) अथवा इस उक्त लक्षण से मृत्यु को उपस्थित जानता है ॥२२॥

मैत्र्यादिषु बलानि ॥२३॥

सूत्रार्थ—(मैत्र्यादिषु) मैत्री आदि में—मैत्री करुणा आदि में संयम करने से (बलानि) उस उस ढंग के बल प्राप्त होते हैं।

भाष्यानु०—(मैत्रीकरुणामुदितेति तिस्रो भावनास्तत्र भूतेषु सुखितेषु मैत्रीं भावयित्वा मैत्रीवलं लभते) मैत्री करुणा मुदिता ये तीन भावनायें हैं उन में से सुखी प्राणियों में मैत्री की भावना करके मैत्री वल प्राप्त करता है (दुःखितेषु करुणां भावयित्वा करुणावलं लभते) दुःखितों में करुणा की भावना करके करुणावल प्राप्त करता है (पुण्यशीलेषु मुदितां भावयित्वा मुदितावलं लभते) पुण्यशीलों में प्रसन्नता की भावना करके प्रसन्नतावल प्राप्त होता है (भावनातः समाधिर्यः स संयमस्ततो वलान्यवन्ध्यवीर्याणि जायन्ते) भावनाओं से जो समाधि हो वह संयम है उस से अनाहत न नष्ट होने वाले वल होते हैं (पापशीलेषूपेक्षा—न तु भावना) पापशीलों में उपेक्षा न कि भावना (ततश्च तस्यां नास्ति समाधिरित्यतो न वलमुपेक्षातस्तत्र संयमाभावादिति) पुनः उसमें समाधि नहीं होती है अतः उपेक्षासे बल प्राप्त नहीं होता कारण कि उसमें संयम न हो सकने से ॥ २३ ॥

वलेषु हस्तिवलादीनि ॥ २४ ॥

सूत्रार्थ—(वलेषु) वलों में—हाथी आदि के वलों में संयम करने से (हस्तिवलादीनि) हस्तिवल-हाथी का वल, व्याघ्रवल सिंह वल आदि प्राप्त होते हैं, एवं हाथी के वेग भार पुष्टि भी गृहीत हैं ।

भाष्यानु०—(हस्तिवले संयमाद्धस्तिवलो भवति) हाथी के वल में संयम करने से हाथी जैसे वलवाला हो जाता है (वैनतेयवले संयमाद् वैनतेयवलो भवति) वैनतेय वल में संयम

करने से वैनतेयबल प्राप्त होता है (वायुबले संयमाद् वायुबलं भवर्तत्येवमादि) वायुबल में संयम करने से वायुबल होता है ॥ २४ ॥

प्रवृत्त्यालोकन्यासात्सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम् ॥ २५ ॥

सूत्रार्थ—(प्रवृत्त्यालोकन्यासात्) 'पीछे कही हुई ज्योतिष्मती' प्रवृत्ति में संयम कर उसके प्रकाश को डालने से (सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम्) सूक्ष्म, छिपे हुए, दूर वस्तु का ज्ञान हो जाता है।

भाष्यानु०—(ज्योतिष्मती प्रवृत्तिरुक्ता मनसस्तस्यां य आलोकस्तं योगी सूक्ष्मे वा व्यवहिते वा विप्रकृष्टे वाऽर्थे विन्यस्य तमर्थमधिगच्छति) मन की ज्योतिष्मती प्रवृत्ति कही गई है उसका जो प्रकाश है उसे योगी सूक्ष्म, छिपे हुए या दूर वस्तु में डालकर उसे समझ लेता है जान लेता है ॥ २५ ॥

भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात् ॥ २६ ॥

सूत्रार्थ—(सूर्ये संयमात्) सूर्य में संयम करने से (भुवनज्ञानम्) भुवन अर्थात् खगोल का ज्ञान होता है।

भाष्यानु०—(तत्प्रस्तारः सप्तलोकाः) उसका फैलाव सात लोक हैं (तत्रावीचेः प्रभृति मेरुपृष्ठं यावदित्येव भूर्लोकः) उनमें भूकेन्द्र से लेकर मेरु पर्वत के पृष्ठ तक जितना है वह भूलोक है (मेरुपृष्ठादारभ्य आध्रुवाद् ग्रहनक्षत्रताराविचित्रोऽन्तरिक्षलोकः) मेरुपृष्ठ से लेकर ध्रुव तक ग्रहनक्षत्रताराओं से विचित्रित अन्तरिक्ष लोक है (ततः परः स्वर्लोकः पञ्चविधो

माहेन्द्रस्तृतीयो लोकः) उससे आगे महेन्द्र का तीसरा स्वर्लोक है (चतुर्थः प्राजापत्यो महर्लोकः) चौथा प्रजापति का महः लोक है (त्रिविधो ब्राह्मः, तद्यथा जनलोकस्तपोलोकः सत्यलोक इति) आगे तीन ब्रह्म के लोक हैं जैसे—जनलोक, तपोलोक, सत्यलोक।

ब्राह्मस्त्रिभूमिको लोकः प्राजापत्यस्ततो महान्।
माहेन्द्रश्च स्वरित्युक्तो दिवि तारा भुवि प्रजाः॥

इति संग्रहश्लोकः।

अर्थात् ब्रह्म का लोक तीनभूमिवाला, प्रजापति का महः लोक, महेन्द्र का स्वर्लोक कहा गया है, द्युलोक में तारा हैं—तारा नक्षत्रों वाला लोक द्युलोक है, प्रजाओं अर्थात् उत्पन्न होने मरने वाले प्राणियों का स्थान भूलोक है। इस प्रकार 'भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम्' नाम से सात लोकों का समूह भुवन—खगोल है।

(तत्रावीचेरुपरिनिविष्टाः षण्महानरकभूमयो घनसलिलानलानिलाकाशतमःप्रतिष्ठामहाकालाम्बरीषरौरवमहारौरवकालसूत्रान्धतामिस्राः)'उन सात लोकों में भूलोक का वर्णन किया जाता है-भूकेन्द्र के ऊपर लिपटे हुए चारों ओर गोलाई में फैले हुए छः महानरक भूमियां है जो कि ठोस मिट्टी-जल-अग्नि-वायु-आकाश-तमः जिनकी प्रतिष्ठा है। ये छः पदार्थ जिन एक एक में बहुधा हैं जिनके पारिभाषिक नाम महाकाल, अम्बरीप, रौरव, महारौरव, कालसूत्र, अन्धतामिस्र हैं (यत्र स्वकर्मोपार्जितदुःखवेदनाः प्राणिनः कष्टमायुर्दीर्घमाक्षिप्य जायन्ते) जहां अपने

कर्मों से उपार्जित दुःख वेदनावाले प्राणी कष्टदायक लम्बी आयु में पड़कर उत्पन्न होते हैं (ततो महातलरसानलातलसुतल-वितलतलातलपातालाख्यानि सप्त पातालानि) पुनः महातल [Australia] रसातल [Java] अतल [Sumatra] सुतल [New Guinea] वितल [Borneo] तलातल [Bebeleas] पाताल [New Zealand] समुद्र में आए हुए छोटे छोटे भूखण्ड टुकड़े हैं (भूमिरियमष्टमी सप्तद्वीपा वसुमती यस्याः सुमेरुर्मध्ये पर्वतराजः काञ्चनः) भूमि यह आठवीं है जो कि सातद्वीपों वाली धनवती है जिसके मध्य में सुमेरु सुनहरा पर्वतराज है (तस्य राजतवैदूर्यस्फाटिकहेममणिमयानि शृङ्गाणि) उसके राजत वैदूर्य स्फाटिक स्वर्ण मणियों वाले शिखर हैं (तत्र वैदूर्य-प्रभानुरागान्नीलोत्पलपत्रश्यामो नभसो दक्षिणो भागः श्वेतः पूर्वः स्वच्छः पश्चिमः कुरण्टाभ उत्तरः) उसमें वैदूर्यप्रभानुराग से नीलोत्पल—नीलकमल के पत्ते जैसा श्याम आकाश दक्षिण का श्वेत पूर्व का स्वच्छ पश्चिम का कुरण्टाभ उत्तर का है (दक्षिण-पार्श्वे चास्य जम्बूर्यतोऽयं जम्बूद्वीपः) दक्षिण पार्श्व में इसके जम्बू है जिस से जम्बूद्वीप है (तस्य सूर्यप्रचाराद्रात्रिं दिवं लग्नमिव वर्तते) सूर्यप्रचार सूर्यकिरणप्रसार से रात्रि और दिन उससे लगे हुए हैं (तस्य नील श्वेतशृङ्गवन्त उदीचीनास्त्रयः पर्वता द्विसहस्रायामाः) उसके नील श्वेतरंग वाले उत्तरी तीन पर्वत दो सहस्र लम्बे क्षेत्र फलवाले हैं, (तदन्तरेषु त्रीणि वर्षाणि नव नव योजनसाहस्राणि रमणकं हिरण्यमुत्तराः कुरव इति) उनके

अभ्यन्तरों में तीन देश नौ नौ योजन सहस्रआयत-क्षेत्रफल वाले रमणक [येनीत संई नदी और वाल्कश झील का मध्य देश] हिरण्य [साईबेरिया का दक्षिण पूर्व का भाग] उत्तरा: कुरवः [साई बेरिया या अन्य क्षेत्र और जंगलपटल] (निषधहेमकूट-हिमशैला दक्षिणतो द्विसहस्रायामाः) दो सहस्र क्षेत्रफलवाले दक्षिणी निषध हेमकूट हिमशैल [नेटालमें प्रकन्सवर्ग नामक वीथी] (तदन्तरेषु त्रीणि वर्षाणि नवनवयोजनस्राहस्राणि हरिवर्ष किम्पुरुषं भारतमिति) उनके मध्य में तीन देश हैं नौ नौ योजन सहस्र आयाम वाले हरिवर्ष--चीन किम्पुरुष--तिब्बत और भारत हैं (सुमेरोः प्राचीनो भद्राश्वमाल्यवत्सीमानः केतुमाला गन्धमादन-सीमानः) सुमेरु के पूर्व में भद्राश्वमाल्य[मंचूरिया[Manchuria] की सीमाएं केतुमाल [Russian Turkistan] और गन्धमादन की सीमाएं हैं (मध्ये वर्षमिलावृतम्) मध्य में इलावृत [ऊपरी मंगोलिया और पूर्वी तुर्किस्तान] (तदेतद्योजनशतसाहस्रं सुमेरु-र्दिशि दिशि तदर्धेन व्यूढम्) वह यह सौसहस्र योजन सुमेरु की दिशा दिशा में आधे भाग पचास सहस्र योजन आयाम से घिरा हुआ है।

(स खल्वयं शतसहस्रायामो जम्बूद्वीपस्ततो द्विगुणेन लवणोदधिना वलयाकृतिना वेष्टितः) वह यह शतसहस्र आयाम वाला जम्बूद्वीप है उससे द्विगुण लवणसमुद्र [साई-बेरिया के नीचे कस्पीयन समुद्र Caspian sea और पश्चिमी परशीय का समुद्र] वलयाकार से घिरा हुआ है (ततश्च द्विगुणा

द्विगुणाः शाककुशकौञ्चशाल्मलगोमेध-'प्लक्ष' पुष्करद्वीपाः समुद्राश्च सर्षपराशिकल्पाः सविचित्रशैलावतंसा इक्षुरससुरा सर्पिर्दधिमण्डक्षीरस्वादूदकाः) उस से द्विगुण द्विगुण शाकद्वीप [उत्तरी मध्य अमरीका और ग्रीन लेण्ड आदि] कुशद्वीप [दक्षिण पश्चिम अफ्रीका] क्रौञ्चद्वीप [उत्तरी अफ्रीका योरुप]; शाल्मल द्वीप [पूर्वी अफ्रीका और लेम्बुरीया] गोमेध या प्लक्ष द्वीप [दक्षिण पूर्वी-अरबिया एशिया माइनर] पुष्कर द्वीप [दक्षिण अमरीका] ये द्वीप हैं और समुद्र सर्षपराशि जैसे विचित्र पर्वत सहित हैं वे समुद्र इक्षुरस, सुरा 'शराब', सर्पि 'घृत', दही, माण्ड, लवण, क्षीर—दूध, के स्वाद जैसे जलवाले हैं। इक्षुरस समुद्र [बाल्टिक समुद्र पूर्वपरशिय समुद्र ब्लेक समुद्र आदि] सुरा समुद्र [लाल समुद्र तथा शाल्मल और कुश द्वीप के मध्य का समुद्र] सर्पिः समुद्र [अटलांटिक समुद्र] दधि समुद्र [ग्रीन लैण्ड और स्केण्डिनेविया के बीच का समुद्र] मण्ड समुद्र—लवण समुद्र [साईबेरिया के नीचे का समुद्र—कास्पियन समुद्र पश्चिमी परशिया का समुद्र] क्षीर समुद्र [पेसिफिक समुद्र] स्वादूदक समुद्र [दक्षिणी अटलांटिक समुद्र]।

(सप्त समुद्रपरिवेष्टिता वलयाकृतयो लोकालोकपर्वतपरिवाराः पञ्चाशद्योजनकोटिपरिसंख्याताः) सातों समुद्रों से लपेटे हुए छल्ले की आकृतिवाले लोक आलोक नामक पर्वतों के परिवार पचास योजन श्रेणी के गिने गए हैं (तदेतत्सर्वं सुप्रतिष्ठित-संस्थानमण्डमध्ये व्यूढम्) वह यह सब सुप्रतिष्ठित पृथिवीपिण्ड

ब्रह्माण्ड के बीच में व्यूह के अन्तर्गत नियन्त्रित है। (अण्डं च प्रधानस्याणुरवयवो यथाऽऽकाशे खद्योत इति) और ब्रह्माण्ड प्रकृति का अणुरूप भाग इतना तुच्छ है जैसे आकाश में खद्योत चमकने वाला पतङ्गकीट—जुगनू होता है (तत्र पाताले जलधौ पर्वतेष्वेतेषु देवनिकाया असुरगन्धर्वकिन्नरकिम्पुरुषयक्षराक्षस-भूतप्रेतपिशाचापस्मारकाप्सरोब्रह्मराक्षसकूष्माण्डविनायकाः प्रति-वसन्ति) समुद्र के अन्तर्गत भूप्रदेश New Zeland आदि में वर्तमान पर्वतों पर देवनिवास हैं तथा असुर गन्धर्व किन्नर किम्पुरुष यक्ष राक्षस भूत प्रेत पिशाच अपस्मारक अप्सरस् ब्रह्मराक्षस कूष्माण्ड विनायक नाम के मनुष्य आदि प्राणी वसते हैं (सर्वेषु द्वीपेषु पुण्यात्मानो देवमनुष्याः) अन्य सब द्वीपों में पुण्यात्मा देव और मनुष्य वसते हैं।

(सुमेरुस्त्रिदशानामुद्यानभूमिः) सुमेरु पर्वत देव जाति के मनुष्यों की उद्यानरूप भूमि है (तत्र मिश्रवनं नन्दनं चैत्ररथं सुमानसमित्युद्यानानि) वहां मिश्रवन नन्दन चैत्ररथ सुमानस ये उद्यान अर्थात् फल फूलों से भरे नैसर्गिक उपवन हैं (सुधर्मा देवसभा, सुदर्शनं पुरं वैजयन्तः प्रासादः) वहां सुधर्मा सभा, सुदर्शन नगर, विजयशिखरवाला महल है (ग्रहनक्षत्रतारकास्तु ध्रुवे निबद्धा वायुविक्षेपनियमेनोपलक्षितप्रचाराः सुमेरोरुपरि निविष्टा दिवि विपरिवर्तन्ते) ग्रह नक्षत्र तारे तो ध्रुव में नियन्त्रित हुए प्रवह नामक वायु के प्रेरणाक्रम से [illegible]गतिवाले हैं सुमेरु के ऊपर वर्तमान हुए द्यौः या अन्तरिक्ष नामक द्वितीय लोक में घूमते हैं।

(माहेन्द्रनिवासिनः षड्देवनिकायाः—त्रिदशा अग्निष्वात्ता याम्यास्तुषिता अपरिनिर्मितवशवर्तिनः परिनिर्मितवशवर्तिनश्चेति) तृतीय माहेन्द्र लोक—महेन्द्र सम्बन्धी लोक के वासी देव हैं त्रिदश, अग्निष्वात्त, याम्य, तुषित, परिनिर्मितवशवर्ती, अपरिनिर्मितवशवर्ती नाम से कहलाने वाले हैं (सर्वे सङ्कल्पसिद्धा अणिमाद्यैश्वर्योपपन्नाः कल्पायुषो वृन्दारकाः कामभोगेनौपपादिकदेहा उत्तमानुकूलाभिरप्सरोभिः कृतपरिचाराः) सब सङ्कल्पसिद्ध अणिमा महिमा आदि ऐश्वर्यों—सिद्धियों से युक्त कल्प तक की आयुवाले पूजनीय सुन्दर काम भोग से उपपादन की हुई देहवाले—स्वाभाविकदेहवाले उत्तम अप्सराओं से सेवाशुश्रूषासहित हैं।

(महति लोके प्राजापत्ये पञ्चविधो देवनिकायः—कुमुदा ऋभवः प्रतर्दना अञ्जनाभाः प्रचिताभा इति) चौथे प्राजापत्य प्रजापतिवाले लोक में पांच प्रकार का देवनिकाय है—कुमुद, ऋभु, प्रतर्दन, अञ्जनाभ, प्रचिताभ, नाम से कहलाने वाले हैं (एते महाभूतवशिनो ध्यानाहाराः कल्पसहस्रायुषः) ये पञ्चमहाभूतों को वशकरने वाले ध्यानभोजन वाले सहस्रकल्प की आयु वाले हैं।

(प्रथमे ब्रह्मणो जनलोके चतुर्विधो देवनिकायो ब्रह्मपुरोहिता ब्रह्मकायिका ब्रह्ममहाकायिका अमरा इति) पांचवें ब्रह्मावाला प्रथम जनलोक चार प्रकार का है—देवनिकाय, ब्रह्मपुरोहित, ब्रह्मकायिक, ब्रह्ममहाकायिक, अमर हैं (ते भूतेन्द्रियवशिनो

द्विगुणद्विगुणोत्तरायुषः)वे पांच भूतों और इन्द्रियों को वशकिए हुए द्विगुण द्विगुण आयु वाले अर्थात् देवनिकाय दो सहस्र-कल्पायु वाले ब्रह्मपुरोहित चार सहस्रकल्पायु वाले ब्रह्मकायिक आठ सहस्रकल्पायु वाले, ब्रह्ममहाकायिक सोलहसहस्र कल्पायु वाले, अमर बत्तीस सहस्र कल्पायु वाले।

(द्वितीये तपसि लोके त्रिविधो देवनिकायः—अभास्वरा महाभास्वराः सत्यमहाभास्वरा इति) ब्रह्मा के दूसरे और क्रम संख्यानुसार छठे लोक में तीन प्रकार का देवनिकाय है—आभास्वर, महाभास्वर, सत्यमहाभास्वर (ते भूतेन्द्रियप्रकृतिवशिनो द्विगुण-द्विगुणोत्तरायुषः सर्वे ध्यानाहारा ऊर्ध्वरेतस ऊर्ध्वमप्रतिहतज्ञाना अधरभूमिष्वनावृतज्ञानविषयाः) वे पञ्चभूतों-इन्द्रियों-प्रकृति को वश में किए हुए द्विगुण द्विगुण अधिक आयु वाले होते हैं अर्थात् अमरों से द्विगुण चौसठसहस्रकल्पायु वाले अभास्वर और एक सौ अठाईस सहस्र-एक लाख अठाईस सहस्र कल्पायु-वाले माहाभास्वर, दोलाख छप्पन सहस्र कल्पायुवाले सत्यमहाभास्वर हैं वे सब ध्यानरूप आहार वाले ऊर्ध्वरेतः ऊर्ध्व अर्थात् अप्रतिहतज्ञानवाले अधरभूमियों में न ढके जाते हुए ज्ञान वाले होते हैं (तृतीये ब्रह्मणः सत्यलोके चत्वारो देवनिकाया अकृतभवनन्यासाः स्वप्रतिष्ठा उपर्युपरिस्थिताः प्रधानवशिनो यावत्सर्गायुषः) ब्रह्मा के तीसरे और क्रमसंख्या में सातवें सत्यलोक में चार देवनिकाय हैं भवनरूप आधार की अपेक्षा न रखने वाले अपने में प्रतिष्ठावाले ऊपर ऊपर

रहने वाले प्रकृति को वश किए हुए सर्गरूप आयु वाले होते हैं।

(तत्राच्युताः सवितर्कध्यानसुखाः शुद्धनिवासाः सविचार-ध्यानसुखाः सत्याभा आनन्दमात्रध्यानसुखाः, संज्ञासंज्ञिनश्चा-स्मितामात्रध्यानसुखाः) वहां अच्युत नामक सवितर्कध्यानसुख वाले, शुद्धनिवासनामक सविचार ध्यानसुखवाले, सत्याभ आनन्दमात्र ध्यानसुखवाले, संज्ञासंज्ञी अस्मितामात्रध्यानसुख-वाले हैं (ते ऽपित्रैलोक्यमध्ये प्रतितिष्ठन्त) वे भी तीनों लोकों के बीच में रहते हैं (त एते सप्तलोकाः सर्व एव ब्रह्मलोकाः) वे ये सात लोक सब ही ब्रह्मा के लोक हैं (विदेहप्रकृतिलयास्तु मोक्षपदे वर्तन्त इति न लोकमध्ये न्यस्ता इति) विदेहप्रकृतिलय तो मोक्षपद में होते हैं लोकों के मध्य में नहीं डाले गये (एतद् योगिना साक्षात्करणीयं सूर्यद्वारे संयमं कृत्वा ततोऽन्यत्रापि, एवं तावदभ्यसेद् यावदिदं सर्वं दृष्टमिति) वह योगी के द्वारा साक्षात् करना चाहिए सूर्यद्वार में संयम करके फिर अन्यत्र भी इसी प्रकार तब तक अभ्यास करे जब तक यह सब साक्षात् होजावे +॥२६॥

चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम् ॥२७॥

(चन्द्रे) चन्द्रमा में संयम करने से (ताराव्यूहज्ञानम)

+इस सूत्र भाष्य का वर्णन सब सत्य या सब असत्य है ऐसा नहीं कहा जासकता वर्णन अधिक करके अप्रसिद्ध है पर जो प्रसिद्ध वर्णन है वह तो सत्य जंचता है आगे अप्रसिद्ध वर्णन होने से कुछ भी कहें पर सब असत्य है ऐसा कहना उचित नहीं।

ताराओं के व्यूह-विशेष सन्निवेश दृष्टक्रम का ज्ञान होता है।

भाष्यानु०—(चन्द्रे संयमं कृत्वा ताराणां व्यूहं विजानीयात) चन्द्रमा में संयम करके ताराओं के व्यूह--क्रम को जान सकता है।

विशेष०—आकाशमण्डल में चन्द्रमा शीघ्र गति वाला है उसमें संयम करने—उसमें प्रतिदिन एक दृष्टि और मन के एकाग्र करने से उसकी जल्दी जल्दी गति से रेवती आदि तारासमूह का ज्ञान होता है जो कि ग्रहों की गति को लक्षित कराने में साधनभूत हैं ॥२७॥

ध्रुवे तद्गतिज्ञानम् ॥२८॥

सूत्रार्थ—(ध्रुवे) ध्रुव में संयम करने से (तद्गतिज्ञानम्) उन ताराओं की गति का ज्ञान होता है।

भाष्यानु०—(ततो ध्रुवे संयमं कृत्वा ताराणां गतिं विजानीयात्) पुनः ध्रुव में संयम करके ताराओं की गति को जान सकता है (ऊर्ध्वविमानेषु कृतसंयमस्तानि विजानीयात्) ऊपर के ग्रहनक्षत्रों में संयम करके उन्हें जान सकता है ॥२८॥

नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम् ॥२९॥

सूत्रार्थ०—(नाभिचक्रे) नाभिचक्र में संयम करने से (कायव्यूहज्ञानम्) देह के व्यूह—स्थितिक्रम का ज्ञान हो जाता है॥

भाष्यानु०—(नाभिचक्रे संयमं कृत्वा कायव्यूहं विजानीयात्) नाभिचक्र में संयम करके देह के व्यूह—स्थितिक्रम को

जान सकता है (वातपित्तश्लेष्माणस्त्रयो दोषाः), वात, पित्त, श्लेष्मा तीन दोष हैं (धातवः सप्त त्वग्लोहितमांसस्नाय्वस्थिमज्जा-शुक्राणि) धातुएं सात हैं त्वचा, रक्त, मांस, स्नायु, अस्थि, मज्जा, शुक्र (पूर्वपूर्वमेषां बाह्यमित्येष विन्यासः) इनमें पहिला पहिला बाहिरी है यह क्रम है ॥२९॥

कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः ॥३०॥

सूत्रार्थ—(कण्ठकूपे) कण्ठकूप में संयम करने से (क्षुत्पिपासानिवृत्तिः) भूख प्यास की निवृत्ति होती है ।

भाष्यानु०—(जिह्वाया अधस्तात्तन्तुस्तन्तोरधस्तात्कण्ठस्ततोऽधस्तात्कूपस्तत्र संयमात् क्षुत्पिपासे न बाधेते) जिह्वा के नीचे तन्तु—नाडी उस नाडी के नीचे कण्ठ उसके नीचे कूप है वहां संयम करने से भूख प्यास नहीं सताते हैं ॥३०॥

कूर्मनाड्यां स्थैर्यम् ॥३१॥

सूत्रार्थ—(कूर्मनाड्याम) कूर्मनाडी—कच्छुए आकार वाली नाडी में संयम करने से (स्थैर्यम) स्थिरता होती है ।

भाष्यानु०—(कूपादध उरसि कूर्माकारा नाड़ी, तस्यां कृतसंयमः स्थिरपदं लभते यथा सर्पो गोधा वेति) कूप से नीचे छाती में कूर्माकार—कच्छपाकार वाली नाड़ी है उसमें संयम करनेवाला स्थिरता के पद को प्राप्त होता है जैसे सर्प या गोधा ॥३१॥

मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम् ॥३२॥

सूत्रार्थ—(मूर्धज्योतिषि) मूर्धा की ज्योति में संयम करने से (सिद्धदर्शनम्) सिद्ध दर्शन होता है।

भाष्यानु०—(शिरःकपालेऽन्तश्छिद्रं प्रभास्वरं ज्योतिस्तत्र संयमं कृत्वा सिद्धानां द्यावापृथिव्योरन्तरालचारिणां दर्शनम्) शिर के कपाल के भीतर छिद्र प्रभावाला ज्योतिर्मय है वहां संयम करके पृथिवी और आकाश के मध्य विचरने वाले पदार्थों का दर्शन अर्थात् ज्ञान होता है ॥३२॥

प्रातिभाद्वा सर्वम् ॥३३॥

सूत्रार्थ—(प्रातिभाद्-वा) प्रातिभ-बुद्धिप्रकाश में संयम करने से भी सब ज्ञान होता है।

भाष्यानु०—(प्रातिभं नाम तारकं तद्विवेकजस्य ज्ञानस्य पूर्वरूपम्) प्रातिभ तारक ज्ञान प्रकाश विन्दु उसके विवेक से उत्पन्न हुए ज्ञान का पूर्वरूप हैं (यथोदये प्रभा भास्करस्य) जैसे सूर्य के उदय होने पर प्रभा (तेन वा सर्वमेव जानाति योगी प्रातिभस्य ज्ञानस्योत्पत्ताविति) उससे भी योगी सब ही जानता है प्रातिभ ज्ञान की उत्पत्ति हो जाने पर ॥३३॥

हृदये चित्तसंवित् ॥३४॥

सूत्रार्थ—(हृदये) हृदय में संयम करने से (चित्तसंवित) मन का ज्ञान हो जाता है * मन में क्या है कैसी प्रवृत्ति है और वह कैसा है इत्यादि।

---

* इस कथन से यह सिद्ध होता है कि मन का स्थान हृदय है। वेद में भी यही कहा है।

"हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु"

भाष्यानु०—(यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म तत्र विज्ञानं तस्मिन् संयमात् चित्तसंवित्) जो यह इस ब्रह्मपुर ब्रह्मनगर में गुप्त कमलगृह है उसमें विज्ञान—अनुभवसामर्थ्य है, वहां संयम करने से चित्त का ज्ञान होता है ॥३४॥

सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासंकीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः परार्थात्स्वार्थसंयमात्पुरुषज्ञानम् ॥३५॥

सूत्रार्थ—(सत्त्वपुरुषयोः-अत्यन्तासंकीर्णयोः) अत्यन्त भिन्न होते हुए बुद्धि और पुरुष अर्थात् आत्मा का (प्रत्ययाविशेषः-भोगः) अभेद प्रतिभान भोग है (परार्थात्) पदार्थ होने से (स्वार्थसंयमात्) स्वार्थ में संयम करने से (पुरुषज्ञानम्) पुरुष का ज्ञान होता है।

भाष्यानु०—(बुद्धिसत्त्वं प्रख्याशीलं समानसत्त्वोपनिबन्धने रजस्तमसी वशीकृत्य सत्त्वपुरुषान्यताप्रत्ययेन परिणतम्) बुद्धि वस्तु प्रख्याशील-सत्त्वगुण की बीज शक्ति वाला है वह समान-सत्त्व के साथ सम्बन्ध करने वाले रजोगुण तमोगुण को वश करके बुद्धिवस्तु और पुरुष के भिन्नतारूपप्रतीतिभान से परिवर्तित हो जाता है (तस्माच्च सत्त्वात्परिणामिनोऽत्यन्तविधर्मा विशुद्धोऽन्यश्चितिमात्ररूपः पुरुषः) और उस परिणामी सत्त्व से अत्यन्त विपरीतधर्मवाला विशुद्ध चेतनामात्ररूप पुरुष आत्मा भिन्न है (तयोरत्यन्तासङ्कीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः पुरुषस्य दर्शितविषयत्वात् स भोगप्रत्ययः सत्त्वस्य परार्थत्वाद् दृश्यः) उन अत्यन्त भिन्न हुओं का अभेद भान भोग है, पुरुष के दर्शित

विषयता—विषय को बुद्धिद्वारा दिखाये जाने से वह भोग प्रतीतिभान है बुद्धि के परार्थ होने से वह दृश्य है।

(यस्तु तस्माद्विशिष्टश्चितिमात्ररूपोऽन्यः पौरुषेयः प्रत्ययस्तत्र संयमात् पुरुषविषया प्रज्ञा जायते) जो तो उस बुद्धिवस्तु से भिन्न चेतनामात्र पुरुषप्रतिभान है उसमें संयम करने से पुरुषविषयक प्रज्ञा होती है (न च पुरुषप्रत्ययेन बुद्धिसत्त्वात्मना पुरुषो दृश्यते) और आत्मा के ज्ञानसाधनरूप बुद्धिवस्तु से आत्मा नहीं दीखता है (पुरुष एव तं प्रत्ययं स्वात्मावलम्बनं पश्यति) पुरुष ही उस प्रत्यय या ज्ञानसाधन को स्वात्मा में आश्रयपाया अर्थात् आश्रित हुआ देखता है (तथा ह्युक्तम्—'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' बृहदारण्यको०) ऐसा कहा भी है—अरे विज्ञाता को किस से जाने ? ॥ ३५ ॥

ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्ता जायन्ते ॥ ३६ ॥

सूत्रार्थ—(ततः) फिर 'पुरुषज्ञान से' (प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्ताः) प्रातिभ आन्तरिक ज्ञानशक्ति से सिद्ध हुए श्रावण-शब्दग्रहणसामर्थ्य, वेदन-स्पर्शग्रहणसामर्थ्य, आदर्श रूपग्रहणसामर्थ्य, आस्वाद—रसग्रहणसामर्थ्य, वार्ता—गन्धग्रहण सामर्थ्य (जायन्ते) प्रकट हो जाती हैं।

भाष्यानु०—(प्रातिभात् सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टातीतानागतज्ञानम्) प्रातिभ अर्थात् आन्तरिक ज्ञानशक्ति से सूक्ष्म, छिपे हुए, दूर, भूत, भविष्यत् का ज्ञान हो जाता है (श्रवणाद् दिव्यशब्दश्रवणम्) शब्दग्रहणशक्ति से दिव्य शब्द का सुनना

(वेदनाद् दिव्यस्पर्शाधिगमः) स्पर्शग्रहणशक्ति से दिव्य स्पर्श की प्राप्ति (आदर्शाद् दिव्यरूपसंवित्) रूपग्रहण शक्ति से दिव्यरूप का अनुभव (आस्वादाद् दिव्यरससंवित्) रसग्रहण शक्ति से दिव्यरस की प्राप्ति (वार्तातो दिव्यगन्धविज्ञानम्) गन्धग्रहणशक्ति से दिव्य गन्धविज्ञान का लाभ (इत्येतानि नित्यं जायन्ते) ये नित्य हो जाते हैं ॥ ३६ ॥

ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः ॥ ३७ ॥

सूत्रार्थ—(ते) वे प्रातिभ श्रावण आदि (समाधौ) समाधि में (उपसर्गाः) उपद्रव हैं—विघ्न हैं (व्युत्थाने सिद्धयः) व्युत्थान संसारदशा में सिद्धियां हैं।

भाष्यानु०—(ते प्रातिभादयः 'प्रातिभश्रवणादयः' समाहितचित्तस्योत्पद्यमाना उपसर्गास्तद्दर्शनप्रत्यनीकत्वात्) वे प्रातिभ श्रावण' आदि समाहित चित्तवाले के प्रति उत्पन्न होते हुए उपद्रव हैं—विघ्न हैं कारणकि उनका दर्शन-प्रादुर्भाव समाधि का विरोधी है (व्युत्थितचित्तस्योत्पद्यमानाः सिद्धयः) व्युत्थितचित्तवाले के लिए प्रकट हुए सिद्धियां हैं ॥ ३७ ॥

बन्धकारणशैथिल्यात्प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः ॥ ३८ ॥

'प्रातिभादयः' पाठ स्खलित है 'प्रातिभश्रवणादयः' पाठ होना चाहिए प्रातिभ तो सभी हैं फिर आदि शब्द कैसे ! हां प्रातिभ श्रवण आदि हैं अतः 'प्रातिभश्रवणादयः' पाठ होगा।

सूत्रार्थ—(चित्तस्य) चित्त के (बन्धकारणशैथिल्यात्) शरीर में बन्धन के कारणरूप कर्म के ढीला हो जाने से—ढीला करने में संयम करने से (च) और (प्रचारसंवेदनात्) चित्त के प्रचार—प्रगतिप्रवृत्ति के संवेदन—अनुभव में संयम करने से (परशरीरावेशः) पर शरीरमें आवेश हो जाता है।

भाष्यानु०—(लोलीभूतस्य मनसोऽप्रतिष्ठस्य शरीरे कर्माशयवशाद् बन्धः प्रतिष्ठेत्यर्थः) चञ्चल चित्त का शरीर में कर्मसंस्थानवश बन्ध अर्थात् प्रतिष्ठा विराजमानता है (तस्य कर्मणो बन्धकारणस्य शैथिल्यं समाधिबलाद् भवति) उस बन्ध के कारणरूप कर्म की शिथिलता समाधिबल से होती है (प्रचारसंवेदनं च चित्तस्य समाधिजमेव) चित्त का प्रचारसंवेदन भी समाधि से ही बनता है (कर्मबन्धक्षयात्स्वचित्तस्य प्रचारसंवेदनाच्च योगी चित्तं स्वशरीरान्निष्कृष्य शरीरान्तरेषु निक्षिपति) कर्मरूप बन्धन के क्षय से स्वचित्त के प्रचार अर्थात् प्रगतिक्रम के अनुभव से योगी चित्त को अपने शरीर से निकाल कर दूसरे शरीरों में डालता है (निक्षिप्तं चित्तमिन्द्रियाण्यनुपतन्ति) डाले हुए चित्त के साथ इन्द्रियां—इन्द्रियशक्तियां भी अनुगमन करती हैं (यथा मधुकरराजानं मक्षिका उत्पतन्तमनूत्पतन्ति निविशमानमनुनिविशन्ति तथेन्द्रियाणि परशरीरावेशे चित्तमनु विधीयन्त इति) जैसे उड़ते हुए मधुमखीराजा के पीछे अन्य मधुमखियां उड़ती हैं और उसके बैठ जाने पर बैठ जाती हैं इसी प्रकार इन्द्रियशक्तियां दूसरे शरीर में आवेश करने से

चित्त का अनुसरण करती हैं उसके अनुकूल हो जाती हैं ॥ ३८ ॥

उदानजयाज्जलपङ्ककण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च ॥ ३९ ॥

सूत्रार्थ—(उदानजयात्) उदान के जय से—उदान में संयम करने से (जलपङ्ककण्टकादिषु) जल पङ्क कण्टक आदि में (असङ्गः) सङ्ग नहीं होता जल में डूबने पङ्क में धंसने कांटों के चुभने आदि का अवसर नहीं आता (च) और (उत्क्रान्तिः) उत्क्रान्ति भी होती है।

भाष्यानु०—(समस्तेन्द्रियवृत्तिः प्राणादिलक्षणा जीवनं तस्य क्रिया पञ्चतयी प्राणो मुखनासिकागतिराहृदयवृत्तिः) समस्त इन्द्रियों की वृत्ति—व्यवहारक्रिया प्राण आदि लक्षण वाली है प्राणों द्वारा होती है वह ही जीवन है उसकी क्रिया पांच प्रकार की है, मुखनासिका से गति प्रगति वाला हृदयपर्यन्त प्राण है (समं नयनात्समानश्चानाभिवृत्तिः) 'आहार आदि को' सम—यथावत् ले जाने से समान 'हृदय से' नाभिपर्यन्त (अपनयनादपान आपादतलवृत्तिः) अपनयन करने-वाहिर हटाने से अपान पादतल—पैर के तलवे तक (उन्नयनादुदान आशिरोवृत्तिः) ऊपर लेजाने के कारण उदान है शिरपर्यन्त (व्यापी व्यान इति) समस्त शरीर में व्यापने वाला व्यान है (एषां प्रधानं प्राणः) इन में प्रधान प्राण है (उदानजयाज्जलपङ्ककण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च प्रायणकाले भवति) उदानजय से जल पङ्क कण्टक आदि में सङ्ग न होना और मृत्युकाल में उत्क्रान्ति होती है ॥३९॥

समानजयाज्ज्वलनम् ॥४०॥

सूत्रार्थ—(समानजयात्) समान के जय से (ज्वलनम्) प्रकाशन होता है।

भाष्यानु०—(जितसमानस्तेजस उपध्मानं कृत्वा ज्वलयति) समान का जय जिसने कर लिया वह तेज को प्रकट करके प्रकाशमान हो जाता है ॥४०॥

श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धसंयमाद् दिव्यं श्रोत्रम् ॥४१॥

सूत्रार्थ—(श्रोत्राकाशयोः) श्रोत्र और आकाश के (सम्बन्धसंयमात्) सम्बन्ध में संयम करने से (दिव्यं श्रोत्रम्) दिव्य श्रोत्र हो जाता है।

भाष्यानु०—(सर्वश्रोत्राणामाकाशं प्रतिष्ठा सर्वशब्दानां च) समस्त श्रोत्रों की प्रतिष्ठा—आधारभूमि आकाश है और सभी शब्दों की भी (तथा चोक्तम्—तुल्यदेशश्रवणानामेकदेशश्रुतित्वं सर्वेषां भवतीति) वैसे कहा भी है—सभी तुल्यदेश के श्रोत्रों का एकदेशी—समान स्थान वाला सुनना होता है (तच्चैतदाकाशस्य लिङ्गम्) और वह आकाश का ज्ञापक है द्योतक है साधक है। (अनावरणं चोक्तम्) आकाश को अनावरण भी कहा है (तथाऽमूर्तस्यानावरणदर्शनाद्विभुत्वमपि प्रख्यातमाकाशस्य) तथा अमूर्त—अतीन्द्रिय वस्तु के अनावरण—न घिरी हुई होने के कारण आकाश का विभु होना सिद्ध होता है (शब्दग्रहणानुमितं श्रोत्रम्) शब्द ग्रहण से अनुमानसिद्ध श्रोत्र है (बधिराबधिरयोरेकः शब्दं गृह्णात्यपरो न गृह्णातीति) बहिरे और अबहिरे

में एक शब्दको ग्रहण करता है दूसरा ग्रहण नहीं करता है (तस्माच्छ्रोत्रमेव शब्दविषयम्) इससे श्रोत्र ही शब्द को विषय बनाने वाला है (श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धे कृतसंयमस्य योगिनो दिव्यं श्रोत्रं प्रवर्तते) श्रोत्र और आकाश के सम्बन्ध में जिस ने संयम कियाहो एसे योगी का दिव्य श्रोत्र सम्पन्न होजाता है॥४१॥

कायाकाशयोः सम्बन्धसंयमाल्लघुतूल-
समापत्तेश्चाकाशगमनम् ॥ ४२ ॥

सूत्रार्थ—(कायाकाशयोः) शरीर और आकाश के (सम्बन्धसंयमात्) सम्बन्ध में संयम करने से (च) और (लघुतूल-समापत्तेः) लघु तथा रूई में समापत्ति करने से (आकाशगमनम्) आकाशगमन होता है।

भाष्यानु०—(यत्र कायस्तत्राकाशं तस्यावकाशदानात्कायस्य तेन सम्बन्धः प्राप्तिस्तत्र कृतसंयमो जित्वा तत्सम्बन्धं लघुषु वा तूलादिष्वापरमाणुभ्यः समापत्तिं लब्ध्वा जितसम्बन्धो लघुर्भवति) जहां शरीर-शरीराङ्ग हैं वहां आकाश भी है उसके अवकाश देने से शरीर का उस आकाश से सम्बन्ध है प्राप्ति है उसमें संयम करनेवाला उस सम्बन्धको जीत कर हलके पदार्थों और रूई आदि परमाणुपर्यन्त में समापत्ति—समाधि-प्राप्त करके वह सम्बन्धविजयी हलका हो जाता है (लघुत्वाच्च जले पादाभ्यां विहरति) हलका हो जाने से जल में पैरो से विहार करता है (ततस्तूर्णनाभितन्तुमात्रेण विहृत्य रश्मिषु विह-

रति) तब फिर मकड़ी के तन्तुमात्र द्वारा विहार करके किरणों में भी विहार करता है (ततो यथेष्टमाकाशगतिरस्य भवतीति) पुनः यथेष्ट आकाश में गति इसकी हो जाती है ॥ ४२ ॥

बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा ततःप्रकाशावरणक्षयः॥४३॥

सूत्रार्थ—(बहिः) शरीर से बाहिर परमात्मा आदि सूक्ष्म पदार्थ में (अकल्पिता वृत्तिः) शरीराहङ्कार की कल्पना के बिना वृत्ति (महाविदेहा) महाविदेहा कहलाती है (ततः) उसके संयम से (प्रकाशावरणक्षयः) 'आन्तरिक' प्रकाश के आवरण का क्षय हो जाता है।

भाष्यानु०—(शरीराद् बहिर्मनसो वृत्तिलाभो विदेहा नाम धारणा) शरीर से बाहिर मन का वृत्तिलाभ विदेहा धारणा कहलाती है (सा यदि शरीरप्रतिष्ठस्य मनसो बहिर्वृत्ति-मात्रेण भवति सा कल्पितेत्युच्यते) वह यदि शरीर में रहते हुए मनकीबाहिर वृत्तिमात्र से होती है तो वह कल्पिता कही जाती है (या तु शरीरनिरपेक्षा बहिर्भूतस्यैव मनसो बहिर्वृत्तिः सा खल्वकल्पिता) जो तो शरीर को अपेक्षित न करके शरीराहङ्कार को छोड़ कर मन की बाहिरी वृत्ति है वह अकल्पिता है (तत्र कल्पितया साधयन्त्यकल्पितां महाविदेहा-मिति) उनमें कल्पिताद्वारा अकल्पिता को साधते हैं जो कि महाविदेहा है (यया परशरीराण्याविशन्ति योगिनः) जिसके द्वारा योगी परशरीरों में प्रवेश करते हैं (ततश्च धारणातः प्रकाशात्मनो बुद्धिसत्त्वस्य यदावरणं क्लेशकर्मविपाकत्रयं रज-

स्तमोमूलं तस्य च क्षयो भवति) उसकी धारणा से प्रकाशरूप बुद्धिसत्त्व का जो आवरण अविद्या आदि क्लेश कर्म और फलरूप है तथा रजोगुण और तमोगुण जिसका मूल है उसका क्षय हो जाता है ॥ ४३ ॥

स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद् भूतजयः ॥४४॥

सूत्रार्थ—(स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमात्) पृथिवी आदि पांच भूतों के स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय, अर्थवत्त्व, में संयम करने से (भूतजयः) उन पृथिवी आदि भूतों पर जय प्राप्त होता है।

भाष्यानु०—(तत्र पार्थिवाद्याः शब्दादयो विशेषाः सहाऽऽकारप्रकारादिभिर्धर्मैः स्थूलशब्देन परिभाषिताः) उनमें पार्थिव आदि शब्द आदि विशेष हैं वे आकार प्रकार आदि धर्मों से युक्त स्थूल शब्द से कहे गये हैं (एतद्भूतानां प्रथमं रूपम्) यह भूतों का प्रथम रूप है (द्वितीयं रूपं स्वसामान्यं मूर्तिर्भूमिः स्नेहो जलं वह्निरुष्णता वायुः प्रणामी सर्वतोगतिराकाश इत्येतत्स्वरूपशब्देनोच्यते) दूसरा अपना सामान्य रूप जैसे भूमि मूर्ति—पिण्डरूप या कठिन रूप, जल स्नेह रूप—गीलापन, अग्नि उष्णतारूप, वायु प्रणमनशील—प्रचलनशील, आकाश सर्वत्र प्राप्त यह रूप शब्द से कहा जाता है (अस्य सामान्यस्य शब्दादयो विशेषाः) इस सामान्य के शब्द आदि विशेष हैं (तथा चोक्तम्—एकजातिसमन्वितानामेषां धर्ममात्रव्यावृत्तिरिति) वैसा कहा भी है—एक जाति के अन्तर्गत रहते हुओं

का शब्द आदि धर्ममात्र भेदक हैं ।

(सामान्यविशेषसमुदायोऽत्र द्रव्यम्) सामान्य और विशेष का समुदाय ही यहां द्रव्य है (द्विष्ठो हि समूहः प्रत्यस्तमित-भेदावयवानुगतः शरीरं वृक्षो यूथं वनमिति) लीन होगया है भेद जिन अवयवों का उन अवयवों से युक्त समूह दो प्रकार का है जैसे--शरीर, वृक्ष, यूथ—झुण्ड और वन 'यहां अयुत-सिद्ध अर्थात् नैसर्गिक और युतसिद्ध अर्थात् काल्पनिक या बौद्धिक तथा चेतन और जड के भेद से चार उदाहरण दिए हैं, शरीर और वृक्ष नैसर्गिक, यूथ और वन काल्पनिक या बौद्धिक हैं, शरीर और यूथ चेतन तथा वृक्ष और वन जड़ हैं यह समूह का एक प्रकार है (शब्देनोपात्तभेदावयवानुगतः समूह उभये देवमनुष्याः) शब्द से प्राप्त भेदों के अवयवों से युक्त समूह दोनों देव मनुष्य उदाहरण है (समूहस्य देवा एको भागो मनुष्या द्वितीयो भागस्ताभ्यामेवाभिधीयते समूहः) समूह का देव एक भाग हैं मनुष्य दूसरा भाग उन्हीं से समूह कहा जाता है ।

(स च भेदाभेदविवक्षितः) और वह समूह भेद से एवं अभेद से विवक्षित है (आम्राणां वनं ब्राह्मणानां संघः, आम्र-वणं ब्राह्मणसंघ इति) आमों का वन ब्राह्मणों का संघ 'यह भेद से' आम्रवण ब्राह्मणसंघ 'यह अभेद से कहा गया है'।

(स पुनर्द्विविधो युतसिद्धावयवोऽयुतसिद्धावयवश्च) वह समूह फिर दो प्रकार का है युतसिद्धावयव और अयुतसिद्धा-

वयव, (युतसिद्धावयवः समूहो वनं संघ इति) युतसिद्ध अवयवों वाला समूह वन संघ है (अयुतसिद्धावयव संघातः शरीरं वृक्षः परमाणुरिति) अयुतसिद्ध अवयवों वाला संघात अर्थात् समूह है शरीर वृक्ष परमाणु (अयुत सिद्धावयवभेदानुगतः समूहो द्रव्यमिति पतञ्जलिः) नैसर्गिक या स्वाभाविक अवयव भेद से युक्तसमूह द्रव्य है यह पतञ्जलि कहते हैं (एतत्स्वरूपमित्युक्तम्) यह स्वरूप कहा गया है।

(अथ किमेषां सूक्ष्मरूपं तन्मात्रं भूतकारणं तस्यैकोऽवयवः परमाणुः सामान्यविशेषात्माऽयुतसिद्धावयवभेदानुगतः समुदाय इत्येवं सर्वतन्मात्राण्येतत्तृतीयम्) अब इनका सूक्ष्मरूप क्या है ? 'उत्तर' भूतों—पञ्चभूतों का कारण तन्मात्र सूक्ष्मरूप है उसका एक अवयव परमाणु है सामान्यविशेषात्मक नैसर्गिक अवयव भेद से युक्त समुदाय है, इस प्रकार यह सब तन्मात्र तीसरा रूप है।

(अथ भूतानां चतुर्थं रूपं ख्यातिक्रियास्थितिशीला गुणाः कार्यस्वभावानुपातिनोऽन्वयशब्देनोक्ताः) अब भूतों का चतुर्थ रूप ख्यातिक्रियास्थिति—कान्ति प्रगति जडता शीलवाले सत्त्व रज तम गुण हैं जोकि कार्यस्वभाव का अनुसरण करनेवाले होने से अन्वय शब्द से कहे गए हैं (अथैषां पञ्चमं रूपमर्थवत्त्वं भोगापवर्गार्थता गुणेष्वेवान्वयिनो, गुणास्तन्मात्रभूतभौतिकेष्विति सर्वमर्थवत्) अब इनका पांचवा रूप अर्थवत्त्व है अर्थात् भोग और मोक्ष में सार्थकता गुणों में ही सङ्गत है गुण तन्मात्र

रूप भौतिक द्रव्यों में है अतः सब अर्थवत् है (तेष्विदानीं भूतेषु पञ्चसु पञ्चरूपेषु संयमात्तस्य रूपस्य स्वरूपदर्शनं जयश्च प्रादुर्भवति) अब उन पांच रूपोंवाले पांच भूतों में संयम करने से उस-उस रूप का स्वरूपदर्शन और जय प्रादुर्भूत हो जाता है (तत्र पञ्च भूतस्वरूपाणि जित्वा भूतजयो भवति) उन में पांच भूतस्वरूपों को जीत कर भूतजयी होता है (तज्जयाद्वत्सानुसारिण्य इव गावोऽस्य सङ्कल्पानुयायिन्यो भूतप्रकृतयो भवन्ति) उनके जय से बच्चे के पीछे चलनेवाली गौओं की जैसी भूतप्रकृतियां हो जाती हैं ॥ ४४ ॥

ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसम्पत्तद्धर्मानभिघातश्च ॥ ४५ ॥

सूत्रार्थ—(ततः) फिर (अणिमादिप्रादुर्भावः) अणिमा आदि का प्रादुर्भाव हो जाता है (च) और (कायसम्पत्तद्धर्मानभिघातः) कायसम्पत्ति तथा उसके धर्मों का अनभिघात—बने रहने की प्राप्ति होती है ।

भाष्यानु०—(तत्राणिमा भवत्यणुः) उनमें अणिमा 'अणु' होना सूक्ष्म होना (लघिमा लघुर्भवति) लघिमा लघु है—हलकापन है (महिमा महान् भवति) महिमा महान् है (प्राप्त्यङ्गुल्यग्रेणापि स्पृशति चन्द्रमसम्) प्राप्ति अङ्गुलि के अग्र भाग से भी चन्द्रमा को छूता है (प्राकाम्यमिच्छानभिघातः) प्राकाम्य-इच्छा का न मारा जाना-इच्छा की पूर्ति हो जाना (भूमावुन्मज्जति निमज्जति यथोदके) भूमि में अन्दर चला जाता है और बाहिर आजाता है जैसे जल में डुबकी लगाता

है बाहिर आता है (वशित्वं भूतभौतिकेषु वशी भवत्यवश्यश्चान्येषाम्) वशित्व–इन भूतों भौतिकों में वशी हो जाता है अन्यों का वश्य नहीं होता है (ईशितृत्वं तेषां प्रभवाप्ययव्यूहानामीष्टे) ईशितृता–इन प्रभव और अप्ययरूप व्यूहक्रम का स्वामी हो जाता है (यत्र कामावसायित्वं सत्यसङ्कल्पता यथा सङ्कल्पस्तथा भूतप्रकृतीनामवस्थानम्) जहां काम भाव–इच्छा की समाप्ति हो पूर्णता हो वहां संकल्पता की सिद्धि होती है अर्थात् जैसा संकल्प हो वैसा ही भूतों और प्रकृति का अवस्थित हो जाना (न च शक्तोऽपि पदार्थविपर्यासं करोति) समर्थ भी पदार्थ को उल्टा नहीं कर सकता (कस्मात्–अन्यस्य यत्र कामावसायिनः पूर्वसिद्धस्य तथा भूतेषु संकल्पादिति) कारण कि—पूर्व सिद्ध जहां चाहो कामावसायी का वैसा होने वाले भूतों में संकल्प होता है (एतान्यष्टावैश्वर्याणि) ये आठ ऐश्वर्य हैं।

(कायसम्पद्वक्ष्यमाणा) कायसम्पत्ति आगे कही जाने वाली है (तद्धर्मानभिघातश्च पृथिवी मूर्त्या न निरुणद्धि योगिनः शरीरादिक्रियां शिलामप्यनुविशतीति) उस के कायिक धर्मों का अभिघात नहीं होता—पृथिवी अपने मूर्तिभाव से योगी के शरीर आदि की क्रिया को नहीं रोकती वह शिला में भी प्रवेश करता है (नापः स्निग्धाः क्लेदयन्ति) जल गीले भी उसे गीला नहीं करते (नाग्निरुष्णो दहति) उष्ण अग्नि भी नहीं जलाती (न वायुः प्रणामी वहति) चलने वाला वायु

भी उसे नहीं उड़ाता (अनावरणात्मकेऽप्याकाशे भवत्यावृतकायः सिद्धानामप्यदृश्यो भवति) अनावरण आकाश में आवृत अर्थात् ढकीकायवाला हो जाता है, सिद्धों का भी अदृश्य हो जाता है ॥४५॥

रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि कायसम्पत् ॥४६॥

सूत्रार्थ—(रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि) सौन्दर्य, कान्ति, बल, वज्रसमान शरीरगठन (कायसम्पत) शरीर की सम्पदा है।

भाष्यानु०—(दर्शनीयः कान्तिमानतिशयबलो वज्रसंहननश्चेति) दर्शनीय, सुन्दर, कान्तिमान्, अत्यन्त बलवान् और वज्र के समान शरीर गठनवाला हो जाता है ॥४६॥

ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वसंयमादिन्द्रियजयः ॥ ४७ ॥

सूत्रार्थ—(ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वसंयमात्) ग्रहण इन्द्रिय शक्ति, स्वरूप, अस्मिता, अन्वय, अर्थवत्त्व के संयम से (इन्द्रियजयः) इन्द्रियजय प्राप्त होता है।

भाष्यानु०—(सामान्यविशेषात्मकशब्दादिर्ग्राह्यः) सामान्यविशेषात्मक शब्द आदि अर्थात् शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध विषय ग्राह्य हैं (तेष्विन्द्रियाणां वृत्तिर्ग्रहणम्) उनमें इन्द्रियों की वृत्ति-वर्तनशक्ति व्यवहारशक्ति ग्रहण है (न च तत्सामान्यमात्रग्रहणाकारं कथमनालोचितः स विषयविशेष इन्द्रियेण मनसाऽनुव्यवसीयेतेति) वह सामान्यमात्र ग्रहणाकार गोलकरूप ग्रहण नहीं कहलाता है कारणकि अनालोचित-अनिश्चित वह विषयविशेष मन रूप इन्द्रिय से निश्चय किया जाता है (स्वरूपं

पुनः प्रकाशात्मनो बुद्धिसत्त्वस्य सामान्यविशेषयोरयुतसिद्धावयवभेदानुगतः समूहो द्रव्यमिन्द्रियम्)स्वरूप है—प्रकाशात्मक बुद्धिसत्त्व का सामान्य और विशेषमें वर्तमान नैसर्गिक अवयवभेदयुक्त समूह इन्द्रिय द्रव्य है जो कि बुद्धि का बहिष्करण सामान्य और पृथक् पृथक् रूप आदि का ग्राहक होने से विशेष करण है—नेत्र रूप का ही ग्रहण करता है रस का नहीं इत्यादि बस यह स्वरूप है (तेषां तृतीयं रूपमस्मितालक्षणोऽहङ्कारः) उनमें से तीसरा रूप अस्मितालक्षणवाला—हूँ ऐसा अनुभव के लक्षणवाला अहङ्कार है (तस्य सामान्यस्येन्द्रियाणि विशेषाः) उस सामान्य सत्ता वाले अहङ्कार की इन्द्रियां विशेष हैं (चतुर्थं रूपं व्यवसायात्मकाः प्रकाशक्रियास्थितिशीला गुणा येषामिन्द्रियाणि साहङ्काराणि परिणामः) चौथा रूप है—व्यवसायात्मक व्यवहार कराने वाले कान्ति प्रगति स्तब्धता स्वभाव वाले गुण सत्त्व रज तम हैं जिनका अहङ्कारसहित इन्द्रियां परिणाम हैं (पञ्चमं रूपं गुणेषु यदनुगतं पुरुषार्थवत्त्वमिति) पांचवां रूप गुणों में जो अनुगत—प्राप्त पुरुषार्थवत्ता—कार्यकारिता या कार्यशक्ति है वह अर्थवत्त्व है (पञ्चस्वेतेष्विन्द्रियेषु यथाक्रमं संयमस्तत्र तत्र जयं कृत्वा पञ्चरूपजयादिन्द्रियरूपेजयः प्रादुर्भवति योगिनः) इन पांचों इन्द्रियों में यथाक्रम संयम करना चाहिये उन उन में जय करके पांचों रूपों के जय से योगी को इन्द्रियजय प्रकट होता है ॥४७॥

ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च ॥४८॥

सूत्रार्थ—(ततः) फिर (मनोजवित्वम्) मनोवेगत्व (विकरण-भावः) इन्द्रिय विषय का लाभ (च) और (प्रधानजयः) प्रधान अर्थात् प्रकृति का जय प्राप्त होता है।

भाष्यानु०—(कायस्यानुत्तमो गतिलाभो मनोजवित्वम्) शरीर का अत्युत्तम गतिलाभ मनोजवित्व है (विदेहानामिन्द्रियाणामभिप्रेतदेशकालविषयापेक्षो वृत्तिलाभो विकरणभावः) देह को अपेक्षित न करके इन्द्रियों का अभीष्ट देश, काल, विषय का अनुकूल व्यवहार लाभ विकरणभाव है (सर्वप्रकृतिविकारवशित्वं प्रधानजय इत्येतास्तिस्रः सिद्धयो मधुप्रतीका उच्यन्ते) प्रकृति के समस्त विकारों का वश होजाना प्रधान जय है, ये तीन सिद्धियां मधुप्रतीक कही जाती हैं (एताश्च करणपञ्चरूपजयादधिगम्यन्ते) ये सिद्धियां करणों—इन्द्रियों के पांच रूपों के जय से प्राप्त होती हैं ॥४८॥

सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च ॥४९॥

सूत्रार्थ—(सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य) सत्त्व और पुरुष के भिन्नतादर्शन में संयम करने वाले का (सर्वभावाधिष्ठातृत्वम्) सब भावों की अधिष्ठातृता (च) और (सर्वज्ञातृत्वम्) सर्वज्ञातृता प्रकट हो जाती है।

भाष्यानु०—(निर्धूतरजस्तमोमलस्य बुद्धिसत्त्वस्य परे वैशारद्ये परस्यां वशीकारसंज्ञायां वर्तमानस्य सत्त्वपुरुषान्यताख्याति-

मात्ररूपप्रतिष्ठस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वम्) रजोगुण तमोगुण रूप मल से रहित बुद्धिपदार्थ के अत्यन्त विकास और पर-वशीकारसंज्ञा अर्थात् गुणों में अत्यन्त वशीकारभावना में वर्तमान तथा सत्त्व और पुरुष की भिन्नता की दर्शनस्थिति में प्रतिष्ठित योगी को सब भावों की अधिष्ठातृता सिद्ध होती है (सर्वात्मानो गुणा व्यवसायव्यवसेयात्मकाः स्वामिनं क्षेत्रज्ञं प्रत्यशेषदृश्यात्मत्वेनोपस्थिता इत्यर्थः) सर्वरूपोंवाले गुण व्यवहारक-व्यवहार्यरूप हुए क्षेत्रज्ञ पुरुष-आत्मा स्वामी के प्रति सकल दृश्यरूपता से उपस्थित होते हैं (सर्वज्ञातृत्वं सर्वात्मनां गुणानां शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मत्वेन व्यवस्थितानामक्रमोपारूढं विवेकजं ज्ञानमित्यर्थः) सर्वज्ञातृता है सर्वरूपगुणों के शान्त–उदित–अव्यपदेश्य धर्म भाव से व्यवस्थित हुओं का विना क्रमप्राप्त विवेकोत्पन्न ज्ञान होना (इत्येषा विशोका नाम सिद्धिर्यां प्राप्य योगी सर्वज्ञः क्षीणक्लेशबन्धनो वशी भवति) यह विशोका सिद्धि है जिसे प्राप्त करके योगी सर्वज्ञ क्लेशबन्धन से क्षीण वशी होकर विहार करता है ॥ ४६ ॥

तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम् ॥ ५० ॥

सूत्रार्थ—(तद्वैराग्यात्-अपि) उसके वैराग्य से भी (दोषक्षये) दोषक्षय हो जाने पर (कैवल्यम्) कैवल्य-मोक्ष हो जाता है।

भाष्यानु०—(यदाऽस्यैवं भवति क्लेशकर्मक्षये सत्त्वस्यायं विवेकप्रत्ययो धर्मः सत्त्वं च हेयपक्षे न्यस्तं पुरुषश्चापरिणामी

शुद्धोऽन्यः सत्त्वादिति) जब इस योगी का ऐसा अधिकार हो जाता है—विवेकख्याति से भी वैराग्य होजाता है तब अविद्या आदि क्लेशों और कर्मों के क्षय हो जाने पर बुद्धिसत्त्व का यह विवेक प्रतिभान धर्म और बुद्धि-सत्व त्याज्यपक्ष में डाल दिया गया होजाता है और पुरुष अपरिणामी शुद्ध है बुद्धिसत्त्व से अन्य है (एवमस्य ततो विरज्यमानस्य यानि क्लेशबीजानि दग्धशालीबीजकल्पान्यप्रसवसमर्थानि तानि सह मनसा प्रत्यस्तं गच्छन्ति) इस प्रकार उस से वैराग्य करते हुए इस योगी के जितने क्लेशबीज जले हुए शालीबीजों के समान उत्पत्ति में असमर्थ हुए वे मन के साथ लय को प्राप्त होजाते हैं (तेषु-प्रलीनेषु पुरुषः पुनरिदं तापत्रयं न भुङ्क्ते) उनके प्रलीन होजाने पर पुरुष फिर तीनों तापों को नहीं भोगता है (तदेतेषां गुणानां मनसि कर्मक्लेशविपाकस्वरूपेणाभिव्यञ्जकानां चरितार्थानां प्रतिप्रसवे पुरुषस्याऽऽत्यन्तिको गुणवियोगः कैवल्यं तदा स्वरूप-प्रतिष्ठा चितिशक्तिरेव पुरुष इति) तब मन में कर्मक्लेश-विपाकस्वरूप से प्रकट होने वाले इन चारितार्थ हुए गुणों का प्रतिप्रसव—कारण में लीन होजाने पर पुरुष का आत्यन्तिक गुणों से वियोग होजाना ही कैवल्य है उस समय स्वरूप में प्रतिष्ठित चिति शक्ति पुरुष अर्थात् आत्मा ही है ॥ ५० ॥

स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसङ्गात् ॥५१॥

सूत्रार्थ—(स्थान्युपनिमन्त्रणे) स्थानियों के अपनी ओर आकर्षित करने पर (सङ्गस्मयाकरणम्) संग और आश्चर्यरूप

गर्व न करना चाहिए (पुनः-अनिष्टप्रसङ्गात) पुनः अनिष्ट प्रसंग होने से ।

भाष्यानु०— (चत्वारः खल्वमी योगिनः प्राथमकल्पिको मधुभूमिकः प्रज्ञाज्योतिरतिक्रान्तभावनीयश्चेति) चार योगी होते हैं—प्राथमकल्पिक, मधुभूमिक, प्रज्ञाज्योति, अतिक्रान्तभावनीय (तत्राभ्यासी प्रवृत्तमात्रज्योतिः प्रथमः) उनमें प्रवृत्तमात्र ज्योति-वाला अभ्यासी प्रथम--प्राथमकल्पिक है (ऋतम्भरप्रज्ञो द्वितीयः) ऋतम्भराप्रज्ञावाला दूसरा--मधुभूमिक है (भूतेन्द्रियजयी तृतीयः सर्वेषु भावितेषु कृतरक्षाबन्धः कर्तव्यसाधनादिमान) भूतों और इन्द्रियों पर विजय पाया हुआ तीसरा-प्रज्ञाज्योति है सब भावित सम्पादित और भावनीय सम्पादनीय अभ्यास विषयों में रक्षा-प्रबन्ध कर चुका हुआ कर्तव्यआदिसाधनवाला (चतुर्थो यस्त्वतिक्रान्तभावनीयस्तस्य चित्तप्रतिसर्ग एकोऽर्थः, सप्तविधा-ऽस्य प्रान्तभूमिप्रज्ञा) चतुर्थ जो तो अतिक्रान्त भावनीय है चित्त का प्रतिसर्ग-प्रतिप्रसव-कारणमें प्रलीन होना एक प्रयोजन है इस की सात प्रकार की प्रान्तभूमि—अन्तिम भूमि वाली प्रज्ञा होती है।

(तत्र मधुमतीं भूमिं साक्षात्कुर्वतो ब्राह्मणस्य स्थानिनो देवाः सत्त्वविशुद्धिमनुपश्यतः स्थानैरुपनिमन्त्रयन्ते भो इहाऽऽस्यतामिह रम्यतां कमनीयोऽयं भोगः कमनीयेयं कन्या रसायनमिदं जरा-मृत्युं बाधते वैहायसमिदं यानममी कल्पद्रुमाः पुण्या मन्दाकिनी सिद्धा महर्षय उत्तमा अनुकूला अप्सरसो दिव्ये श्रोत्रचक्षुषी

यत्रोपमः कायः स्वगुणैः सर्वमिदमुपार्जितमायुष्मता प्रतिपद्यता-मिदमक्षयमजरामरस्थानं देवानां प्रियमिति) उन चारों में मधु-मती भूमि को साक्षात् करते हुए ब्राह्मण को स्थानी देव सत्त्व-शुद्धि को देखते हुए स्थानों द्वारा आकर्षित करते हैं कि यहां बैठिए यहां रमिए कमनीय यह भोग कमनीया यह कन्या यह रसायन जरा और मृत्यु हटाने वाला आकाशीय यह यान है ये कल्पद्रुम पुण्य मन्दाकिनी सिद्ध महर्षि उत्तम अनुकूल अप्सराएं दिव्यकान आंख वज्रसमान देह यह सब अपने गुणों से तुझ आयुष्मान् ने उपार्जित किया है सेवन करिये यह अक्षय अजर अमर स्थान देवों का प्यारा है (एवमभिधीयमानः सङ्गदोषान् भावयेद् घोरेषु संसाराङ्गारेषु पच्यमानेन मया जननमरणान्धकारे विपरिवर्तमानेन कथञ्चिदासादितः क्लेशतिमिरविनाशी योग-प्रदीपस्तस्य चैते तृष्णायोनयो विषयवायवः प्रतिपक्षाः) इस प्रकार उपमन्त्रित किया हुआ सङ्गदोषों का ध्यान करे कि घोर संसा-रांगारों में मुझ पकते हुए और जननमरणरूप अन्धकार में भट-कते हुए ने जैसे तैसे करके प्राप्त किया अविद्या आदि क्लेशान्धकार का विनाशक योगप्रदीप और उसके ये तृष्णा के योनिरूप—कारण, विषयवायुएं—विषय की हवाएं प्रतिपक्षी हैं-विरोधी हैं (स खल्वयं लब्धालोकः कथमनया विषयमृग-तृष्णया वञ्चितस्तस्यैव पुनः प्रदीप्तस्य संसाराग्नेरात्मानमिन्धनी-कुर्यामिति) वह यह प्राप्त किया है प्रकाश जिसने ऐसा मैं कैसे इस विषयमृगतृष्णा से धोखे में आ उसी जलती संसार

अग्नि में अपने को ईन्धन बनाऊं (स्वास्ति वः स्वप्नोपमेभ्यः कृपणजनप्रार्थनीयेभ्यो विषयेभ्य इत्येवं निश्चितमतिः समाधिं भावयेत्) तुम स्वप्नसमान निर्बल जन से प्रार्थनीय विषयों के लिए स्वस्ति हो निश्चित बुद्धिवाला समाधि का सम्पादन करे या मन का समाधान करे।

(सङ्गमकृत्वा स्मयमपि न कुर्यादेवमहं देवानामपि प्रार्थनीय इति) संग न करके आश्चर्यरूप गर्व भी न करे कि इस प्रकार मैं देवों विद्वानोंका भी वांछनीय हो गया(स्मयादयं सुस्थितं मन्यतया मृत्युना केशेषु गृहीतमिवात्मानं न भावयिष्यति) चकित गर्व से यह मैं भला हो गया—मैं ऊंचा होगया इस मन्यता से मृत्यु द्वारा केशों में पकडाई खाया जैसा अपने आत्मा को समुन्नत न कर सकेगा (तथा चास्य छिद्रान्तरापेक्षी नित्यं यत्नोपचर्यः प्रमादो लब्धविवरः क्लेशानुत्तम्भयिष्यति ततः पुनरनिष्टप्रसङ्गः) तथा इसके दूसरे छिद्रों की अपेक्षा कर अन्य छिद्रों को कारण बनाना चाहता हुआ प्रमाद छिद्र पाते ही क्लेशों को उभार देगा फिर अनिष्ट का प्रसंग हो जावेगा (एवमस्य सङ्गस्मयावकुर्वतो भावितोऽर्थो दृढो भविष्यति) इस प्रकार संग तथा स्मय आश्चर्यरूप गर्व न करते हुए का सम्पादित योगाभ्यासरूप अर्थ दृढ़ हो जावेगा (भावनीयश्चार्थोऽभिमुखी भविष्यतीति) और भावनीय साधनीय अर्थ सामने दीखने लगेगा—प्राप्ति के अग्रपथ पर आजावेगा॥ ५१ ॥

क्षणतत्क्रमयोः संयमाद् विवेकजं ज्ञानम् ॥ ५२ ॥

सूत्रार्थ—(क्षणतत्क्रमयोः) क्षण और उसके क्रम में (संयमात्) संयम करने से (विवेकजं ज्ञानम्) विवेकज ज्ञान उत्पन्न होता है।

भाष्यानु०—(यथापकर्षपर्यन्तं द्रव्यं परमाणुरेवं परमापकर्षपर्यन्तः कालः क्षणो यावता वा समयेन चलितः परमाणुः पूर्वदेशं जह्यादुत्तरदेशं सम्पद्येत स कालः क्षणः) जैसे अपकर्ष का पर्यन्त—क्षीणता का सर्वान्तिमरूप--टूटते टूटते सबसे अन्तिम टुकड़ा जिसका फिर टुकड़ा न हो सके वह परमाणु है इसी प्रकार अत्यन्त छोटा अन्तिम काल क्षण है अथवा जितने समय में परमाणु पूर्व देश को छोड़ कर दूसरे देश को प्राप्त हो उतना छोटा कालक्षण है (तत्प्रवाहाविच्छेदस्तु क्रमः) उस क्षण के प्रवाह का विच्छेद न होना क्रम है (क्षणतत्क्रमयोर्नास्ति वस्तुसमाहार इति बुद्धिसमाहारो मुहूर्ताहोरात्रादयः) क्षण और उसके क्रम का वस्तुसमाहार नहीं बुद्धिसमाहार है मुहूर्त अहोरात्र पक्ष आदि काल (स खल्वयं कालो वस्तुशून्योऽपि बुद्धिनिर्माणः शब्दज्ञानानुपाती लौकिकानां व्युत्थितदर्शनानां वस्तुस्वरूप इवावभासते) वह यह काल वस्तुशून्य होता हुआ भी बुद्धि से निर्माण किया जानेवाला शब्दज्ञान का अनुसरण करने वाला व्युत्थानदर्शी लौकिक जनों के सम्मुख वस्तुरूप सा अवभासित होता हैं।

(क्षणस्तु वस्तुपतितः क्रमावलम्बी) क्षण तो वस्तुतः क्रम का अवलम्बन करने वाला है (क्रमश्च क्षणानन्तर्यात्मा तं कालविदः काल इत्याचक्षते योगिनः) और क्रम क्षणों का तार-

नम्यत्व है उसे कालवेत्ता योगी काल कहते हैं (न च द्वौ क्षणौ सह भवतः) दो क्षण साथ नहीं होते (क्रमश्च न द्वयोः सहभुवोरसम्भवात्) और क्रम भी साथ होने वाले दो क्षणों में नहीं हो सकता असम्भव होने से (पूर्वस्मादुत्तरभाविनो यदानन्तर्यं क्षणस्य स क्रमः) पूर्व क्षण से आगे होने वाले क्षण का जो समीपत्व है वह क्रम है (तस्माद् वर्तमान एवैकः क्षणो न पूर्वोत्तरक्षणाः सन्ति) इससे वर्तमान ही एक क्षण है उसके पूर्व उत्तर क्षण नहीं है (तस्मान्नास्ति तत्समाहारः) इससे उनका समाहार नहीं होता (ये तु भूतभाविनः क्षणास्ते परिणामान्विता व्याख्येयाः) जो तो भूतभावी-वस्तुओं के रूप देने वाले क्षण हैं वे परिणामगत व्याख्या करने योग्य हैं (तेनैकेन क्षणेन कृत्स्नो लोकः परिणाममनुभवति) उस एक क्षण से सम्पूर्ण वस्तु परिणाम को प्राप्त होती है (तत्क्षणोपारूढाः खल्वमी सर्वे धर्माः) उस क्षण को प्राप्त हुए वे सब धर्म होते हैं (तयोः क्षणतत्क्रमयोः संयमात्तयोः साक्षात्करणम्) उन दोनों क्षण और उसके क्रम में संयम करने से उन दोनों का साक्षात्कार होता है (ततश्च विवेकजं ज्ञानं प्रादुर्भवति) इससे विवेकज ज्ञान प्रकट होता है ॥५२॥

अव०—(तस्य विषयविशेष उपक्षिप्यते—) उसका विषयविशेष उपस्थित किया जाता है—

जातिलक्षणदेशैरन्यतानवच्छेदात्तुल्ययोस्ततः प्रतिपत्तिः ॥५३॥

सूत्रार्थ—(तुल्ययोः) दो तुल्य वस्तुओं में (जातिलक्षण-

देशैः) जाति, लक्षण, स्थान के द्वारा (अन्यतानवच्छेदात्) भिन्नता के नष्ट न होने से—भिन्नता हो जाने से (ततः प्रतिपत्तिः) फिर उस वस्तु की सिद्धि—वस्तु सिद्धि हो जाती है।

भाष्यानु०—(तुल्ययोर्देशलक्षणसारूप्ये जातिभेदोऽन्यताया हेतु गौरियं वडवेयमिति) तुल्य वस्तुओं में जिनमें देशों और लक्षण की समानता हो तो उनमें जाति का भेद पृथक्ता का कारण है कि यह गौ है यह घोड़ी है (तुल्यदेशजातीयत्वे लक्षणमन्यत्वकरं कालाक्षी गौः स्वस्तिमती गौरिति) तुल्य देशता और जातिता में लक्षण भिन्नता करता है कि यह कालाक्षी गौ है यह स्वस्तिचिन्हवाली गौ है (द्वयोरामलकयोर्जातिलक्षणसारूप्याद् देशभेदोऽन्यत्वकर इदं पूर्वमिदमुत्तरमिति) दो आमलों में जाति, लक्षण की समानता होने से देशभेद अन्यता का कारण होता है कि यह पूर्व का यह उत्तर का है (यदा तु पूर्वमामलकमन्यव्यग्रस्य ज्ञातुरुत्तरदेश उपावर्त्यते तदा तुल्यदेशत्वे पूर्वमेतदुत्तरमेतदिति प्रविभागानुपपत्तिः) जब तो पूर्व आमला अन्य में व्यस्त ज्ञाता के उत्तर देश में उपस्थापित कर दिया गया हो तुल्यदेशता होने से यह पूर्व का है यह उत्तर का है ऐसा विभाग नहीं बन सकता (असन्दिग्धेन च तत्त्वज्ञानेन भवितव्यमित्यत इदमुक्तं ततः प्रतिपत्ति विवेकज्ञानादिति) तत्त्वज्ञान असन्दिग्ध होना चाहिये इसलिये यह कहा है, तभी विवेक ज्ञान से वस्तुसिद्धि होती है।

(कथम) कैसे—कारण कि (पूर्वामलकसहक्षणो देश उत्तरा-

मलकसहक्षणाद् देशाद् भिन्नः) पूर्व आमले सहित क्षणवाला देश उत्तर आमले सहित क्षण वाले देश से भिन्न है (ते चामलके स्वदेशक्षणानुभवभिन्ने) और वे दोनों आमले अपने देश-क्षणानुभव से परस्पर भिन्न हैं (अन्यदेशक्षणानुभवस्तु तयोरन्यत्वे हेतुरिति) अन्य देशक्षणानुभव तो उन दोनों के भिन्न होने में कारण है (एतेन दृष्टान्तेन परमाणोस्तुल्यजातिलक्षण-देशस्य पूर्वपरमाणुदेशसहक्षणसाक्षात्करणादुत्तरस्य परमाणोस्तद्देशानुपपत्तावुत्तरस्य तद्देशानुभवो भिन्नः सहक्षणभेदात्तयोरीश्वरस्य योगिनोऽन्यत्वप्रत्ययो भवतीति) इस दृष्टान्त से तुल्यजातिलक्षणदेशवाले परमाणु का पूर्वपरमाणुसम्बन्धी देशसहितक्षण के साक्षात्कार से उत्तर परमाणु के उस पूर्व परमाणु वाले देश की उत्पत्ति न होने पर उत्तर परमाणु का और उसके देश का अनुभव भिन्न होता है सहक्षण भेद से पूर्व और उत्तर परमाणुओं में स्वामी योगी को उनके अन्यत्व का ज्ञान हो जाता है।

(अपरे तु वर्णयन्ति—येऽन्त्या विशेषास्तेऽन्यताप्रत्ययं कुर्वन्तीति) कुछ अन्य तो वर्णन करते हैं—जो अन्त्य विशेष धर्म हैं वे अन्यता अर्थात्—भिन्नता ज्ञान को करते हैं (तत्रापि देशलक्षणभेदो मूर्तिव्यवधिजातिभेदश्चान्यत्वे हेतुः) वहां भी देश एवं लक्षण का भेद और पिण्डरूप, आकृति, सीमा, जाति का भेद होना अन्यता का कारण है (क्षणभेदस्तु योगिबुद्धिगम्य एवेति) क्षणभेद तो योगी की बुद्धि से ही प्रतीत होने

वाला है (अत उक्तं मूर्तिव्यवधिजातिभेदाभावान्नास्ति मूलपृथक्त्वमिति वार्षगण्यः) इसलिये कहा है मूर्ति, व्यवधि-सीमा, जाति के भेद के अभाव से मूल वस्तु अर्थात जगत् के कारण-रूप प्रकृति में अन्यता नहीं है ॥५३॥

तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम् ॥५४॥

सूत्रार्थ—(तारकम्) संसार सागर से तरानेवाला होने से तारक ज्ञान (सर्वविषयम्) सर्वविषय सम्बन्धी (सर्वथा-विषयम्) सर्व प्रकार के विषयों वाला (च) और (अक्रमम्) क्रम की अपेक्षा न रखता हुआ अर्थात् निरन्तर वर्तमान या एक साथ वर्तमान हो (इति विवेकजं ज्ञानम्) बस यह विवेकज ज्ञान है।

भाष्यानु०—(तारकमिति स्वप्रतिभोत्थमनौपदेशिकमित्यर्थः) तारकज्ञान अपनी प्रतिभा से उद्भव हुआ विना उपदेश का ज्ञान (सर्वविषयं नास्य किञ्चिदविषयीभूतमित्यर्थः) सर्व विषय—इस का कुछ भी अविषयीभूत न हो—सब विषयों में पहुँचने वाला (सर्वथा विषयमतीतानागतप्रत्युत्पन्नं सर्वं पर्यायैः जानातीत्यर्थः) सर्वथाविषय—अतीत अनागत वर्तमान सब को बारी बारी से जानता है (अक्रममेकक्षणोपारूढं सर्वं सर्वथा गृह्णातीत्यर्थः) अक्रम--एक क्षण में ग्राह्य सब सर्वथा ग्रहण करता है (अस्यैवांशो योगप्रदीपो मधुमतीं भूमिमुपादाय यावदस्य परिसमाप्तिरिति) इस ही का अंश योगप्रदीप मधुमती

भूमि को लेकर जब तक परिसमाप्ति 'सप्तप्रान्तभूमिप्रज्ञा' हो रहता है ॥५४॥

अव०—(प्राप्तविवेकजज्ञानस्याप्राप्तविवेकजज्ञानस्य वा—) विवेकज ज्ञान को प्राप्त हुए या न हुए योगी के—

सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति ।५५॥

सूत्रार्थ—(सत्त्वपुरुषयोः) बुद्धिसत्त्व और पुरुष अर्थात चेतन आत्मा के (शुद्धिसाम्ये) निर्मलता की समता जब हो जाती है— अचेतनतत्वदर्शनरूप मल से रहितता हो जाती है तब (कैवल्यमिति) बस वह कैवल्य है ।

भाष्यानु०— (यदा निर्धूतरजस्तमोमलं बुद्धिसत्त्वं पुरुषान्यता-ख्यातिमात्राधिकारं दग्धक्लेशबीजं भवति तदा पुरुषस्य शुद्धि-सारूप्यमिवापन्नं भवति तदा पुरुषस्योपचरितभोगाभावः शुद्धिः) जब रजोगुण तमोगुणरूपमल से रहित पुरुष की अन्यता प्रतीतिमात्र करानेवाला दग्धक्लेशबीजयुक्त–जले हुए बीजों के जैसा हो जाता है तब वह आत्मा की शुद्धिरूपता जैसी स्थिति को प्राप्त होता है उस समय उपस्थित भोगों का अभाव हो जाना ही पुरुष—आत्मा की शुद्धि है (एतस्यामवस्थायां कैवल्यं भवतीश्वरस्यानीश्वरस्य वा) इस अवस्था में कैवल्य अर्थात् मोक्ष हो जाता है ईश्वर अर्थात पूर्वोक्त संयमों से ज्ञान के स्वामी या अस्वामी के एवं विवेकजज्ञान के भागी या इतर—विवेकजज्ञान के अभागी का (नहि दग्धक्लेशबीजस्य ज्ञाने पुनरपेक्षा काचिदस्ति) दग्धक्लेशबीजवाले योगी की फिर

ज्ञान में कोई अपेक्षा—आवश्यकता—इच्छा नहीं है (सत्त्व-शुद्धिद्वारेणैतत्समाधिजमैश्वर्यं ज्ञानं चोपक्रान्तम्) सत्त्वशुद्धि-द्वारा प्राप्त यह समाधि से साधित ऐश्वर्य और ज्ञान का उपक्रम किया गया है (परमार्थतस्तु ज्ञानाददर्शनं निवर्तते तस्मिन्नि-वृत्ते न सन्त्युत्तरे क्लेशाः) वास्तव में ज्ञान से अदर्शन आत्मता का अदर्शन निवृत्त होता है उसके निवृत्त हो जाने पर भावी अविद्या आदि क्लेश नहीं हैं (क्लेशाभावात् कर्मविपाका-भावः) क्लेशों के अभाव से कर्मों और फलों का अभाव हो जाता है (चरिताधिकाराश्चैतस्यामवस्थायां गुणा न पुरुषस्य पुनर्दृश्यत्वेनोपतिष्ठन्ते) इस अवस्था में गुण कार्य समाप्त कर चुके होते हैं फिर वे पुरुष अर्थात् आत्मा के दृश्य बन कर उप-स्थित नहीं होते (तत्पुरुषस्य कैवल्यं तदा पुरुषः स्वरूपमात्रज्योति-रमलः केवली भवति) वह पुरुष का कैवल्य है तब पुरुष आत्मा स्वरूपमात्रज्योतिवाला मलरहित केवल होता है ॥५५॥

॥ तृतीयः पादः समाप्तः ॥

चतुर्थ पाद

जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः ॥ १ ॥

सूत्रार्थ—(सिद्धयः) सिद्धियां (जन्मौषधिमन्त्रतप-समाधि-जाः) जन्म, औषधि, मन्त्र, तप, समाधि से हुआ करती हैं।

भाष्यानु०—(देहान्तरिता जन्मना सिद्धिः) दूसरे देह से आई हुई जन्म की सिद्धि होती है (औषधिभिरसुरभवनेषु रसायनेनेत्येवमादिः) औषधियों से असुरभवनों में रसायन आदि से होती हैं (मन्त्रैराकाशगमनादिलाभः) मन्त्रों से आकाशगमन आदि का लाभ (तपसः सङ्कल्पसिद्धिः कामरूपी यत्र यत्र कामग इत्येवमादि) तपसे संकल्पसिद्धि कामरूपी जहां जहां चाहे कामग अर्थात् इच्छाचारी होता है (समाधिजाः सिद्धयो व्याख्याताः) समाधि से प्रकट हुई सिद्धियों का 'पिछले तृतीयपाद में' व्याख्यान कर दिया है॥ १ ॥

अव०—(तत्र कायेन्द्रियाणामन्यजातीयपरिणतानाम्—) उन में काया इन्द्रियों के अन्यजातीय में परिणत हुओं के—

जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात् ॥ २ ॥

सूत्रार्थ—(जात्यन्तरपरिणामः) जात्यन्तर—जन्मान्तर का परिणाम या सिद्धिपरिणाम (प्रकृत्यापूरात) प्रकृति के

आपूर हो जाने अर्थात् कारण के भरपूर हो जाने से होता है।

भाष्यानु०—(पूर्वपरिणामापाय उत्तरपरिणामोपजनस्तेषा-मपूर्वावयवानुप्रवेशाद् भवति) पूर्व परिणाम के समाप्त होजाने पर उत्तरपरिणाम का उद्भव या आगगमन होता है और वह उन परिणाम योग्यों के अपूर्व अवयवों के अनुप्रवेश से होता है (कायेन्द्रियप्रकृतयश्च स्वं स्वं विकारमनुगृह्णन्त्यापूरेण धर्मादि-निमित्तमपेक्षमाणा इति) काया और इन्द्रियों की प्रकृतियां भरपूर होने—समर्थ होने से अपने अपने विकार का प्रारम्भ आदि निमित्त को अपेक्षित करती हुई करती हैं ॥

निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत् ॥३॥

सूत्रार्थ—(निमित्तम्) धर्म आदि 'धर्म, गुण, कर्म, शील' (प्रकृतीनाम्) प्रकृतियों—काया इन्द्रियों की प्रकृतियों का (अप्रयोजकम्) प्रयोजक—प्रेरक नहीं है (ततः) पुनः (वरण भेदः -तु) आवरण का भेदन तो (क्षेत्रिकवत्) क्षेत्रवाले किसान के द्वारा जैसा होता है ऐसे जानना।

आशय—काया इन्द्रियों की प्रकृतियां जन्मान्तरपरिणाम के लिये आपूर होती हैं-प्रविष्ट होती हैं अपने धर्म आदि को अपेक्षित करके परन्तु वे धर्म आदि प्रवेश में प्रेरक नहीं बनते हैं किन्तु उन धर्म आदि के आगेप्रवाहित होने में जो वरण—आवरण रोधक होता है उसका भेदन हो जाता है जैसे खेत वाले किसान द्वारा खेत की मेण्ड का भेदन होजाने पर जल पूर्व खेत में भरपूर हो जाने पर दूसरे खेत में स्वतः ही चला

जाता है एवं काया इन्द्रियों की प्रकृतियां भी पूर्व देह में आपूर होकर-अपना काम पूरा करके अधिक मात्रा में होने से पूर्व देह में परिणाम न लासकने से जन्मान्तर में-दूसरे देह में परिणाम-कारक होजाती हैं।

भाष्यानु०--(न हि धर्मादि निमित्तं तत्प्रयोजकं प्रकृतीनां भवति) वह धर्म आदि निमित्त प्रकृतियों का प्रयोजक अर्थात् प्रेरक नहीं होता है (न कार्येण कारणं प्रवर्त्यते) कार्य से कारण प्रवृत्त नहीं होता (कथं तर्हि, वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत्) तो कैसे प्रकृतियों का आपूर—आवेश प्रवेश दूसरे शरीर में होता है ? 'उत्तर' जबकि आवरण—रोधक का भेदन खेत वाले किसानके द्वारा जैसे हो जाता है 'वैसा होजाता है तो प्रकृतियां भी जन्मान्तर में चली जाती हैं' (यथा क्षेत्रिकः केदारादपां पूर्णात्केदारान्तरं पिप्लावयिषुः समं निम्नं निम्नतरं वा नापः पाणिनाऽपकर्षत्यावरणं त्वासां भिनत्ति तस्मिन् भिन्ने स्वयमापः केदारान्तरमाप्लावयन्ति तथा धर्मः प्रकृतीनामावरणधर्मं भिनत्ति तस्मिन् भिन्ने स्वयमेव प्रकृतयः स्वं स्वं विकारमाप्लावयन्ति) जैसे किसान जलों से पूर्ण खेत दूसरे समान नीचे अधिक नीचे खेत में पहुँचाने बहाने का इच्छुक जल को हाथ से नहीं सरकाता किन्तु जलों के आवरण—मेण्ड को तोड़ देता है उसके टूट जाने पर जल स्वयं ही एक खेत से दूसरे खेत में चले जाते हैं वैसे ही धर्म भी प्रकृतियों के आवरण गुण का भेदन कर देता है उसका भेदन हो जाने पर स्वयं ही प्रकृतियां

अपने अपने विकार को प्राप्त हो जाती हैं (यथा वा स एव क्षेत्रिकस्तस्मिन्नेव केदारे न प्रभवत्यौदकान् भौमान् वा रसान् धान्यमूलान्यनुप्रवेशयितुं किं तर्हि मुद्गगवेधुकश्यामाका-दींस्ततोऽपकर्षति) अथवा जैसे वह ही किसान उसी खेत में जलसम्बन्धी भूमिसम्बन्धी रसों को धान्यों चावलों की जड़ों में प्रविष्ट करने को समर्थ नहीं होता किन्तु मुद्ग, गवेधुक–गोजवी, श्यामक आदि को वहां से हटाता है (अपकृष्टेषु तेषु स्वयमेव रसो धान्यमूलान्यनुप्रविशन्ति तथा धर्मो निवृत्तिमात्रे कारण-मधर्मस्य शुद्ध्यशुद्ध्योरत्यन्तविरोधात्, न तु प्रकृतिप्रवृत्तौ हेतु-र्भवतीति) उनके हट जाने पर स्वयं ही रस–धान्य–चावलों की जड़ों में प्रवेश कर जाते हैं उसी प्रकार अधर्म के निवृत्तिमात्र में धर्म कारण है, शुद्धि और अशुद्धि के अत्यन्त विरोध होने से प्रकृति की प्रवृत्ति में धर्म कारण नहीं बनता है (अत्र नन्दी-श्वरादय उदाहार्याः) यहां नन्दीश्वर आदि उदाहरण देने योग्य हैं (विपर्ययेणाप्यधर्मो धर्मं बाधते) विपरीत रूप से भी ले लें-अधर्म धर्म को बाधता है (ततश्चाशुद्धिपरिणामः) तब अशुद्धि का परिणाम हो सकता है (तत्रापि नहुषाजगरादय उदाहार्याः) वहां भी नहुष अजगर आदि उदाहरण देने योग्य हैं ॥ ३॥

अव०—(यदा तु योगी बहून् कायान् निर्मिमीते तदा किमे-कमनस्कास्ते भवन्त्यथानेकमनस्का इति—) जब तो योगी बहुत शरीरों का निर्माण करता है तब क्या एकमन वाले वे शरीर होते हैं या वे अनेक मन वाले ?—

निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात् ॥ ४ ॥

सूत्रार्थ—(निर्माणचित्तानि) निर्माण चित्त होते हैं (अस्मितामात्रात्) अस्मितामात्र अर्थात् अहङ्कार से।

भाष्यानु०—(अस्मितामात्रं चित्तकारणमुपादाय निर्माणचित्तानि करोति ततः सचित्तानि 'शरीराणि' भवन्तीति) अस्मितामात्र- अहङ्कार रूप चित्त के कारण को लेकर योगी निर्माणचित्तों को करता है पुनः शरीर सचित्त—चित्तवाले कृत्रिमचित्तवाले होते हैं ॥ ४॥

प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषाम् ॥ ५ ॥

सूत्रार्थ—(अनेकेषाम्) अनेक चित्तों के (प्रवृत्तिभेदे) प्रवृत्ति भेद होने में (एकं प्रयोजकं चित्तम्) एक मुख्यचित्त प्रयोजक—प्रेरक है।❋

भाष्यानु०—(बहूनां चित्तानां कथमेकचित्ताभिप्रायपुरःसरा प्रवृत्तिरिति सर्वचित्तानां प्रयोजकं चित्तमेकं निर्मिमीते ततः प्रवृत्तिभेदः) बहुत चित्तों की एक चित्त को लेकर कैसे प्रवृत्ति होती है? इसका कारण यह है कि सारे चित्तों का प्रेरक चित्त एक है-वह एक चित्त जब अन्य चित्तों का निर्माण करता है तो प्रवृत्तिभेद हो जाता है❋ ॥ ५ ॥

❋ भाष्य में इस सूत्र को प्रवृत्तिभेद के कारण में लगाया गया है कि कैसे प्रवृत्तिभेद होता है परन्तु सूत्रशैली से यह सूत्र अनेक चित्त एकचित्त 'अस्मितामात्र' से कैसे बनते हैं उसके दर्शाने में है कि (अनेकेषाम् एकं चितं प्रयोजकं प्रवृत्तिभेदे 'भवति') अनेक चित्तों का एक चित्त प्रेरक-उत्थापक—निर्मापक प्रवृत्ति भेद होने पर हो जाता हैं जैसी जैसी प्रवृति होती है वैसा वैसा चित्त निर्माण हो जाता है।

तत्र ध्यानजमनाशयम् ॥ ६ ॥

सूत्रार्थ—(तत्र) उन में (ध्यानजम्) ध्यान से उत्पन्न—समाधि से उत्पन्न चित्त (अनाशयम्) आशय अर्थात् वासना से रहित होता है।

भाष्यानु०—(पञ्चविधं निर्माणचित्तं जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धय इति) निर्माणचित्त पांच प्रकार का होता है कारण कि जन्म, औषधि, मन्त्र, तपः, समाधि से पांच सिद्धियां होती हैं 'इन से पांच प्रकार के चित्त होते हैं' (तत्र यदेव ध्यानजं चित्तं तदेवानाशयं तस्यैव नास्त्याशयो रागादिप्रवृत्ति र्नातः पुण्यपापाभिसम्बन्धः क्षीणक्लेशत्वाद् योगिन इति) उनमें जो ध्यान से उत्पन्न—समाधि से उत्पन्न चित्त है वही आशयरहित-वासनारहित होता है उसीका आशय अर्थात् राग आदि प्रवृत्ति नहीं होती उससे पुण्य पाप का सम्बन्ध या संसर्ग नहीं होता योगी के अविद्या आदि क्लेशों के क्षीण हो जाने के कारण (इतरेषां तु विद्यते कर्माशयः) औरों का तो कर्माशय—कर्मसंस्थान—कर्मसञ्चय—कर्मक्षेत्र होता है ॥६॥

अव०—(यतः—) जिससे—

कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम् ॥ ७ ॥

सूत्रार्थ—(योगिनः) योगी का (कर्म) कर्म अशुक्लाकृष्णम्) पुण्य पाप से रहित होता है (इतरेषाम्) दूसरों—अयोगियों का (त्रिविधम्) तीन प्रकार का होता है।

भाष्यानु०—(चतुष्पदी खल्वियं कर्मजातिः) चार पादवाली यह कर्मजाति है (कृष्णा शुक्लकृष्णा शुक्ला-अशुक्लाकृष्णा चेति) पाप, पुण्यपाप, पुण्य, अपुण्य-अपाप (तत्र कृष्णा दुरात्मनाम्) उन में पाप दुरात्माओं का (शुक्लकृष्णा वहिःसाधनसाध्या) पुण्यपाप बाहिरी साधनों से सिद्ध होने योग्य (तत्र परपीडा-नुग्रहद्वारेणैव कर्माशयप्रचयः) उस में दूसरे के प्रति पीडा और दया के द्वारा ही कर्माशय—कर्मसंस्थान होता है (शुक्ला तपःस्वाध्यायध्यानवताम्) पुण्य कर्म तपस्वाध्यायध्यानवालों का होता है (सा हि केवले मनस्यायत्तत्वादबहिःसाधनाधीना न परान् पीडयित्वा भवति) वह ही केवल मन में आयत्त होने से बहिःसाधनाधीन नहीं अतएव दूसरों को पीडा देकर नहीं होता (अशुक्लाकृष्णा संन्यासिनां क्षीणक्लेशानां चरम-देहानामिति) पुण्यपाप से रहित कर्म अविद्या आदि क्लेश जिनके क्षीण हो गए हैं ऐसे अन्तिम देहवाले संन्यासियों का होता है (तत्राशुक्लं योगिन एव फलसंन्यासादकृष्णं चानुपादा-नात) उसमें अशुक्ल-पुण्य से रहित फल को छोड़ देने से और अकृष्ण-पाप से रहित स्वीकार न करने से कर्म योगियों का ही होता है (इतरेषां तु भूतानां पूर्वमेव त्रिविधमिति) अन्य प्राणियों का तो पहिला त्रिविध ही होता है ॥७॥

ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्तिर्वासनानाम् ॥८॥

सूत्रार्थ—(ततः) फिर (तद्विपाकानुगुणानाम्-एव) उन ...ओं के फलों के अनुरूप (वासनानाम्-अभिव्यक्तिः) वासनाओं ...प्रकटता होती है।

भाष्यानु०—(तत इति त्रिविधात् कर्मणः, तद्विपाकानुगुणानामेवेति यज्जातीयस्य कर्मणो यो विपाकस्तस्यानुगुणा या वासनाः कर्मविपाकमनुशेरते तासामेवाभिव्यक्तिः) उस त्रिविध, 'पुण्य, पाप, पुण्य-पाप' कर्म से उनके फलों के अनुरूप जो वासनाएं कर्मफल के पीछे रह जाती हैं उनकी प्रकटता होती है (न हि दैवं कर्माविपच्यमानं नारकतिर्यङ्मनुष्यवासनाभिव्यक्तिनिमित्तं सम्भवति) देवों के योग्य कर्म पकता हुआ नरक तिर्यक् मनुष्यसन्बन्धी वासनाओं की प्रकटता का कारण नहीं हो सकता (किन्तु दैवानुगुणा एवास्य वासना व्यज्यन्ते) किन्तु देवों के अनुरूप ही इस कर्म की वासनाएं व्यक्त-प्रकट होती हैं (नारकतिर्यङ्मनुष्येषु चैवं समानाश्चर्चः) नरक तिर्यक् मनुष्य में भी इसी प्रकार समान विचार का प्रसङ्ग है। जैसे मनुष्यों के योग्य कर्म पकता हुआ नरक तिर्यक् सम्बन्धी वासनाओं की प्रकटता का कारण नहीं हो सकता किन्तु मनुष्यों के अनुरूप ही इस कर्म की वासनाएं प्रकट होती हैं इत्यादि ॥८॥

जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात् ॥९॥

सूत्रार्थ—(जातिदेशकालव्यवहितानाम्-अपि) जन्म देश काल से अन्तरित—छिपी हुई वासनाओं का भी (आनन्तर्यम्) अन्तराहित्य—समीपता—समसूत्री भाव हो जाता है (स्मृ

तिसंस्कारयोः) स्मृति और संस्कार की (एकरूपत्वात्) एक रूपता होने से।

भाष्यानु०—(वृषदंशविपाकोदयः स्वव्यञ्जकाञ्जनाभिव्यक्तः) पुण्य-अपुण्य कर्माशय अपने व्यञ्जक—प्रकटता के निमित्त से प्रकट होने वाला प्रकट हो जाता है (स यदि जातिशतेन वा दूरदेशतया वा कल्पशतेन वा व्यवहितः पुनश्च स्वव्यञ्जकाञ्जन एवोदियाद् द्रागित्येव पूर्वानुभूतवृषदंशविपाकाभिसंस्कृता वासना उपादाय व्यज्येत) वह यदि सौ 'सैंकडों' जन्मों से या दूर देश से या कल्प भर काल से छिपा हुआ हो फिर अपने प्रकट करने वाले निमित्त से प्रकट होने वाला ही तुरन्त उदय हो जाता है पूर्व अनुभव किये हुये पुण्य—अपुण्य कर्माशय से संस्कृत वासनाओं को लेकर प्रकट हो जावे (कस्मात्) क्योंकि (यतो व्यवहितानामप्यासां सदृशं कर्माभिव्यञ्जकं निमित्तीभूतमित्यानन्तर्यमेव) जिस से इन छिपी हुई वासनाओं के समान कर्म प्रकटता करने वाला निमित्तभूत है अतः अन्तरराहितता है—रुकावट नहीं है (कुतश्च, स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात्) कैसे ? स्मृति और संस्कार के एकरूपत्व होने से (यथानुभवस्तथा संस्काराः) जैसा अनुभव हो वैसे संस्कार होते हैं (ते च कर्मवासनारूपाः) और वे कर्मवासना के अनुरूप होते हैं (यथा च वासनास्तथा स्मृतेरिति जातिदेशकालव्यवहितेभ्यः संस्कारेभ्यः स्मृतिः) जैसे वासनायें हों वैसे ही स्मृति होती है अतः जाति देश काल की रुकावट में

रहने वाले संस्कारों से स्मृति होती है (स्मृतेश्च पुनः संस्कारा इत्येवमेते स्मृतिसंस्कारा कर्माशयवृत्तिलाभवशाद् व्यज्यन्ते) और स्मृति से फिर संस्कार इस प्रकार ये स्मृति संस्कार कर्म संस्थान वृति के लाभ से प्रकट होते हैं (अतश्च व्यवहितानामपि निमित्तनैमित्तिकभावानुच्छेदादानन्तर्यमेव सिद्धमिति) अतः रुकावट में आये हुओं—छिपे हुओं का भी निमित्त नैमित्तिक भावों के नाश न होने से अन्तर रहितता—समीपता सिद्ध है ॥९॥

तासामनादित्वं चाऽऽशिषो नित्यत्वात् ॥१०॥

सूत्रार्थ—(तासाम्) उन वासनाओं का (अनादित्वम्) अनादित्व है (आशिषः—नित्यत्वात्) आशीः-भावना-भीतरी इच्छा के नित्य होने से ।

भाष्यानु०—(तासां वासनानामाशिषो नित्यत्वादनादित्वम) उन वासनाओं का आशीः-भावना-भीतरी इच्छा के नित्य होने से अनादित्व सिद्ध हो जाता है (यथेयमात्माशीर्मा न भुवं भूयासमिति सर्वस्य दृश्यते सा न स्वाभाविकी) जो यह आत्मा की आशीः—भावना—भीतरी इच्छा है कि मैं न होऊं न—किन्तु होऊं—बना रहूँ यह सबकी दिखलाई पड़ती है वह स्वाभाविक नहीं है (कस्मात्) कैसे ? (जातमात्रस्य जन्तोरननुभूतमरणधर्मकस्य द्वेषदुःखानुस्मृतिनिमित्तो मरणत्रासः कथं भवेत्) उत्पन्न मात्र जन्तु के मरणधर्म के अनुभव किए विना द्वेष दुःख के अनुसार स्मृति के निमित्तवाला मरणभय

कैसे हो सके (न च स्वाभाविकं वस्तु निमित्तमुपादत्ते) और स्वाभाविक वस्तु निमित्त को नहीं लेती है (तस्मादनादि-वासनानुविद्धं चित्तं निमित्तवशात् काश्चिदेव वासनाः प्रति-लभ्य पुरुषस्य भोगायोपावर्तत इति) इससे अनादि वासनाओं से युक्त यह चित्त के वश से किन्हीं वासनाओं को प्राप्त करके पुरुष भोग के लिये उपस्थित होता है (घटप्रासादप्रदीपकल्पं संकोच-विकासि चित्तं शरीरपरिमाणाकारमात्रमित्यपरे प्रतिपन्नाः) घड़े और महल के अन्दर रखे दीपक की भांति संकोचविकासधर्म-वाला चित्त शरीर के परिणाम आकारमात्रवाला है ऐसा अन्य मानने वाले हैं (तथा चान्तराभावः संसारश्च युक्त इति) इसी कारण अन्तर का अभाव है और संसार उचित है (वृत्तिरेवास्य विभुनश्चित्तस्य संकोचविकासिनीत्याचार्यः)वृत्ति ही इस विभु चित्त की संकोचविकासवाली है यह आचार्य मानता है (तच्च धर्मादिनिमित्तापेक्षम्) और वह चित्त धर्म आदि निमित्त को अपेक्षित करता है (निमित्तं च द्विविधं बाह्यमाध्यात्मिकं च) और निमित्त दो प्रकार का है बाह्य और आध्यात्मिक(शरीरादिसाधनापेक्षं बाह्यं स्तुतिदानाभिवादनादि-चित्तमात्राधीनं श्रद्धाद्याध्यात्मिकम्) शरीर आदि साधन की अपेक्षा रखने वाला बाहिरी निमित्त और स्तुति दान अभिवादन आदि चित्तमात्र के अधीन श्रद्धा आदि आध्यात्मिक है (तथा चोक्तं—ये चैते मैत्र्यादयो ध्यायिनां विहारास्ते बाह्यसाधन-निरनुग्रहात्मानः प्रकृष्टं धर्ममभिनिर्वर्तयन्ति) ऐसा कहा भी

है—जो ये मैत्री करुणा आदि ध्यानियों के विहार-सेवनीय उपचार हैं वे बाहरी साधनों के अवश्य अनुसरणकरनेवाले हैं वे उत्तम धर्म को सिद्ध करते हैं (तयोर्मानसं वलीयः) उन दोनों में मानस—आध्यात्मिक बलवान् है (कथम्, ज्ञानवैराग्ये केनातिशय्येते, दण्डाकरण्यं च चित्तबलव्यतिरेकेण शरीरेण कर्मणा शून्यं कः कर्तुमुत्सहेत समुद्रमगस्त्यवद्वा पिबेत्) क्योंकि ज्ञान वैराग्य किस बाधक से दबाये जासकते हैं ? चित्तबल आध्यात्मिक बल के अतिरिक्त शारीरिक कर्म से दण्डकारण्य को कौन शून्य करने का साहस करसके या समुद्र को अगस्त्य जैसे कौन पीसके ॥ १० ॥

हेतुफलाश्रयालम्बनैः सङ्गृहीतत्वादेषामभावे तदभावः ॥११॥

सूत्रार्थ—(हेतुफलाश्रयालम्बनैः) हेतु-फल-आश्रय- आलम्बन द्वारा (संगृहीतत्वात) वासनाएं संगृहीत होती हैं (एषाम्-अभावे) इनके अभाव में (तदभावः) उनका अभाव हो जाता है।

भाष्यानु०—(हेतु धर्मात्सुखमधर्माद्दुःखं सुखाद्रागो दुःखाद्द्वेषस्ततश्च प्रयत्नस्तेन मनसा वाचा कायेन वा परिस्पन्दमानः परमनुगृह्णात्युपहन्ति वा ततः पुनर्धर्माधर्मौ सुखदुःखे रागद्वेषाविति प्रवृत्तमिदं षडरं संसारचक्रम्) हेतु-धर्म से सुख अधर्म से दुःख, सुख से राग दुःख से द्वेष, उनसे प्रयत्न उस प्रयत्न द्वारा मन वाणी या शरीर से दौड़ धूप करता हुआ दूसरे को अपनाता है और नष्ट करता है उससे फिर धर्म अधर्म सुख

दुःख रागद्वेष इस प्रकार यह छः अरेवाला संसारचक्र है (अस्य च प्रतिक्षमावर्तमानस्याविद्या नेत्री मूलं सर्वक्लेशानामित्येष हेतुः) और प्रतिक्षण घूमते हुए इस चक्र की नेत्री चलाने वाली अविद्या है जो सब क्लेशों का मूल है, यह हेतु हुआ (फलं तु यमाश्रित्य यस्य प्रत्युत्पन्नता धर्मादेर्न त्वपूर्वोपजनः) और फल है जिसको आश्रय बना जिस किसी भी धर्म आदि की वर्तमानता है, कोई अपूर्व उत्पत्ति नहीं (मनस्तु साधिकारमाश्रयो वासनानाम्) आश्रय-वासनाओं का साधिकार अर्थात् गुणों के व्यवहार से युक्त मन है (न ह्यवसिताधिकारे मनसि निराश्रया वासनाः स्थातुमुत्सहन्ते) अवसिताधिकार—समाप्तगुणाधिकार वाले चित्त में वासनाएं निराश्रय ठहरने को समर्थ नहीं होती हैं (यदभिमुखीभूतं वस्तु यां वासनां व्यनक्ति तस्यास्तदालम्बनम्) जो उपस्थित वस्तु जिस वासना को व्यक्त करती है वह उसका आलम्बन है अर्थात् आलम्बन वह है वासना जिसको सन्मुख कर प्रकट हो (एवं हेतुफलाश्रयालम्बनैरेतैः संगृहीताः सर्वाः वासनाः) इस प्रकार उन हेतु-फल-आश्रय-आलम्बन से संगृहीत हुई सब वासनाएं हैं (एषामभावे तत्संश्रयाणामपि वासनानामभावः) इनके अभाव में उनके अधीन होने वाली वासनाओं का भी अभाव हो जाता है ॥ ११ ॥

अव०—(नास्त्यसतः सम्भवः, न च सतो विनाश इति द्रव्यत्वेन सम्भवन्त्यः कथं निवर्तिष्यन्ते वासना इति) अविद्यमान का प्रादुर्भाव या प्रकटीभाव नहीं होता है, और न विद्यमान का

विनाश होता है अतः द्रव्यभाव से वासनाएं होती हुईं कैसे निवृत्त हो जाएंगी ?—

अतीतानागतं स्वरूपतोऽस्त्यध्वभेदाद्धर्माणाम् ॥ १२ ॥

सूत्रार्थ—(अतीतानागतम्) भूत भविष्यत् 'वस्तु' (स्वरूपतः-अस्ति) स्वरूप से हैं (धर्माणामध्वभेदात्) धर्मों के मार्ग भेद से।

भाष्यानु०—(भविष्यद्व्यक्तिकमनागतमनुभूतव्यक्तिकमतीतं स्वव्यापारोपारूढं वर्तमानं, त्रयं चैतद् वस्तु ज्ञानस्य ज्ञेयम्) भविष्य में होने वाली व्यक्ति अनागत है अनुभव में आचुकी वस्तु अतीत है अपने व्यापार में आरूढ़ हुई वस्तु वर्तमान ये तीनों वस्तु ज्ञान का ज्ञेय है (यदि चैतत्स्वरूपतो नाभविष्यन्नेदं निर्विषयं ज्ञानमुत्पद्यते) यदि ये स्वरूप से न हों तो यह निर्विषय होने के कारण ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता (तस्मादतीतानागतं स्वरूपतोऽस्तीति) उससे अतीत और अनागत स्वरूप से हैं (भोगभागीयस्य वाऽपवर्गभागीयस्य वा कर्मणः फलमुत्पित्सु यदि निरुपाख्यमिति तदुद्देशेन तेन निमित्तेन कुशलानुष्ठानं न युज्येत) भोगभागीय या अपवर्ग-भागीय कर्म के फल को उत्पन्न करने में उत्सुक ज्ञान निरुपाख्य अवर्णनीय होगा अतः वह उद्देश्य से उस निमित्त से कुशल का अनुष्ठान नहीं हो सकता (सतश्च फलस्य निमित्तं वर्तमानीकरणे समर्थं नापूर्वोपजने) विद्यमान फल का निमित्त वर्तमान रूप देने में समर्थ होता है अपूर्व—अवस्तु रूप से रहते हुए के

उपजाने में नहीं (सिद्धं निमित्तं नैमित्तिकस्य विशेषानुग्रहणं कुरुते नापूर्वमुत्पादयतीति) सिद्ध निमित्त नैमित्तिक के विशेष रूप को अनुगत करता है अपूर्व को उत्पन्न नहीं करता है।

(धर्मी चानेकधर्मस्वभावस्तस्य चाध्वभेदेन धर्माः प्रत्यवस्थिताः) और धर्मी अनेक धर्मों को रखने के स्वभाववाला होता है उसके मार्गभेद से धर्म वर्तमान हैं (न च यथा वर्तमानव्यक्तिविशेषापन्नं द्रव्यतोऽस्त्येवमतीतमनागतं च) और जैसे वर्तमान व्यक्तिविशेष को प्राप्त द्रव्यरूप है ऐसे अतीत और अनागत नहीं है (कथं तर्हि स्वनैव व्यङ्ग्येन स्वरूपेणानागतमस्ति) कैसे फिर ?—अपने व्यक्त होने वाले स्वरूप से अतीत है (वर्तमानस्यैवाध्वनः स्वरूपव्यक्तिरिति न सा भवत्यतीतानागतयोरध्वनोः) वर्तमान अध्वा-मार्ग की ही स्वरूप व्यक्ति है वह अतीत अनागत मार्गों की नहीं होती (एकस्य चाध्वनः समये द्वावध्वानौ धर्मिसमन्वागतौ भवत एवेति नाभूत्वा भाव स्त्रयाणामध्वनामिति) एक मार्ग के समय में 'शेष' दो मार्ग धर्मी 'वस्तु' में युक्त होकर रहते हैं तीनों मार्गों का भाव कोई न होकर नहीं होता किन्तु होकर ही होता है ॥१२॥

ते व्यक्तसूक्ष्मा गुणात्मानः ॥१३॥

सूत्रार्थ—(ते) वे धर्म 'वर्तमान अतीत अनागतरूप' (गुणात्मानः) गुणरूप (व्यक्तसूक्ष्माः) प्रकट अप्रकट हैं।

भाष्यानु०—(ते खल्वमी त्र्यध्वानो धर्मा वर्तमाना व्यक्तात्मानोऽतीतानागताः सूक्ष्मात्मानः षडविशेषरूपाः) वे ये तीन

मार्गों वाले धर्म—वर्तमान व्यक्त रूपवाले अतीत अनागत सूक्ष्म रूपवाले छः सामान्य होते हैं—छः भावविकार 'अस्ति जायते' आदि होते हैं (सर्वमिदं गुणानां सन्निवेशविशेषमात्रमिति परमार्थतो गुणात्मानः) सब यह गुणों का संस्थानविशेष—संगठन--विशेष है अतः परमार्थता में—वास्तव में गुणरूप हैं (तथा च शास्त्रानुशासनम्–) ऐसे ही शास्त्र का उपदेश है—

"गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति।
यत्तु दृष्टिपथं प्राप्तं तन्मायेव सुतुच्छकम्॥"

अर्थात् गुणों का परम रूप दृष्टिपथ नहीं आता है, जो तो दृष्टिपथ प्राप्त होता है माया जैसा तुच्छ है।

अव०—(यदा सर्वे गुणाः कथमेकः शब्द एकमिन्द्रियमिति–) जब सब गुण हैं कैसे एक शब्द एक इन्द्रिय ऐसा व्यवहार है—

परिणामैकत्वाद्वस्तुतत्त्वम् ॥१४॥

सूत्रार्थ—(परिणामैकत्वात्) परिणाम एक हो जाने से (वस्तुतत्त्वम्) वस्तुरूप हो जाता है।

भाष्यानु०—(प्रख्याक्रियास्थितिशीलानां गुणानां ग्रहणात्मकानां करणभावेनैकः परिणामः श्रोत्रमिन्द्रियं ग्राह्यात्मकानां शब्दतन्मात्रभावेनैकः परिणामः शब्दो विषय इति) कान्ति–प्रगति--स्थिति शीलवाले गुणों 'सत्त्वरजःतमः गुणों' ग्रहणात्मक होते हुओं का करण—उपकरण भाव से एक परिणाम श्रोत्र--कान इन्द्रिय है 'उन्हीं गुणों' ग्राह्यरूप होते हुओं का

शब्दतन्मात्र भाव से एक परिणाम शब्द विषय है (शब्दादीनां मूर्तिसमानजातीयानामेकः परिणामः पृथिवीपरमाणुस्तन्मात्रावयवस्तेषां चैकः परिणामः पृथिवी गौर्वृक्षः पर्वत इत्येवमादिर्भूतान्तरेष्वपि स्नेहौष्ण्यप्रणामित्वावकाशदानान्युपादाय सामान्यमेकविकारारम्भः समाधेयः) शब्द आदि तन्मात्राएं जो मूर्ति के समानजातीय हैं उनका एक परिणाम पृथिवी परमाणुतन्मात्रों का अवयव है और उन पृथिवीपरमाणुओं का एक परिणाम पृथिवी गौ वृक्ष पर्वत इत्यादि है, अन्य वस्तुओं में भी स्नेह उष्णता प्रणामित्व अवकाशदान धर्मों को लेकर सामान्य से एक विकार का बनना स्थिर समझना चाहिये।

(नास्त्यर्थो विज्ञानविसहचरः, अस्ति तु ज्ञानमर्थविसहचरं स्वप्नादौ कल्पितमित्यनया दिशा ये वस्तुस्वरूपमपह्नुवते ज्ञानपरिकल्पनामात्रं वस्तु स्वप्नविषयोपमं न परमार्थतोऽस्तीति य आहुस्ते तथेति प्रत्युपस्थितमिदं स्वमाहात्म्येन वस्तु कथमप्रमाणात्मकेन विकल्पज्ञानबलेन वस्तुस्वरूपमुत्सृज्य तदेवापलपन्तः श्रद्धेयवचनाः स्युः) विज्ञान से पृथक् रहने वाला कोई पदार्थ नहीं, ज्ञान तो अर्थ से पृथक् वस्तु है। स्वप्न आदि में कल्पित है इसी रीति से जो वस्तु के स्वरूप को झुठलाते हैं कि ज्ञानपरिकल्पनामात्र वस्तु स्वप्न के समान है वास्तव में नहीं है ऐसा जो कहते हैं हां वे वैसा कहें पर अपने गुण से विद्यमान वस्तु अप्रमाणरूप विकल्पज्ञानबल वस्तुस्वरूप को छोड़कर अपलपित करते हुये—झुठलाते हुए कैसे श्रद्धायोग्य वचन हो

सकते हैं ? ॥१४॥

अव०—(कुतश्चैतदन्याय्यम्-) कैसे यह अन्याय्य है—

वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयो विभक्तः पन्थाः ॥१५॥

सूत्रार्थ—(वस्तुसाम्ये) वस्तु की समानता होने पर भी समान वस्तु होने पर भी (चित्तभेदात्) चित्त के भेद से—चित्त व्यवहार के भेद से (तयोः) उन दोनों ज्ञान और अर्थ का (विभक्तः पन्थाः) अलग अलग मार्ग है।

भाष्यानु०—(बहुचित्तालम्बनीभूतमेकं वस्तु साधारणं, तत्खलु नैकचित्तपरिकल्पितं नाप्यनेकचित्तपरिकल्पितं किन्तु स्वप्रतिष्ठम्) बहुत चित्तों का आश्रयीभूत एक सामान्य वस्तु होता है वह एक चित्त से परिकल्पित नहीं—और न अनेक चित्तों से परिकल्पित है किन्तु निजप्रतिष्ठा वाला—निज सत्ता वाला है (कथं, वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्) कैसे ? वस्तु समान होने पर चित्तों के भिन्न भिन्न होने से (धर्मापेक्षं चितस्य वस्तुसाम्येऽपि सुखज्ञानं भवत्यधर्मापेक्षं तत एव दुःखज्ञानमविद्यापेक्षं तत एव मूढज्ञानं सम्यग्दर्शनापेक्षं तत एव माध्यस्थ्यज्ञानमिति) वस्तु एक होने पर भी चित्त को धर्म के कारण सुखज्ञान होता है अधर्म के कारण उसी वस्तु से दुःख ज्ञान अविद्या के कारण उसी वस्तु से मूढता ज्ञान—मोहरूप ज्ञान और सम्यग्दर्शन के कारण उसी वस्तु से माध्यस्थ्य—उदासीन ज्ञान होता है (कस्य तच्चित्तेन परिकल्पितम्) किस के चित्त से वह परिकल्पित है (न चान्यचित्तपरिकल्पितेनार्थेनान्यस्य

चित्तोपरागो युक्तः) अन्य के चित से परिकल्पित वस्तु के साथ अन्य के चित्त का उपराग-लगाव नहीं हो सकता (तस्माद् वस्तुज्ञानयोर्ग्राह्यग्रहणभेदभिन्नयोर्विभक्तः पन्थाः) इस से ग्राह्य भेद और ग्रहण भेद के भिन्न होने वाले वस्तु और ज्ञान का अलग अलग मार्ग है (नानयोः सङ्करगन्धोऽस्ति) इन दोनों का संकरगन्ध—एक होने का गन्ध भी नहीं है।

(सांख्यपक्षे पुनर्वस्तु त्रिगुणं चलं च गुणवृत्तमिति धर्मादिनिमित्तभेदापेक्षं चित्तैरभिसम्बध्यते) सांख्य पक्ष में तो वस्तु तीन गुणवाला है और गुणों का व्यवहार चल है अस्थिर है धर्म आदि निमित्त की अपेक्षा करके चित्तों से सम्बन्धित होता है (निमित्तानुरूपस्य च प्रत्ययस्योत्पद्यमानस्य तेन तेनात्मना हेतु र्भवति) और निमित्त के अनुसार उत्पन्न होने वाले प्रत्यय ज्ञान का उस उस निमित्तता से हेतु होता है (केचिदाहुः—ज्ञान सहभूरेवार्थो भोग्यत्वात् सुखादिवदिति) कुछ लोग कहते हैं—ज्ञान के साथ होने वाला ही अर्थ है भोग्य होने से सुख आदि के समान (त एतया साधरणत्वं बाधमानाः पूर्वोत्तरक्षणेषु वस्तुरूपमेवापह्नुवते) वे इस से साधारणत्व एकत्व को बाधते हुए पहिले पिछले क्षणों में वस्तु के स्वरूप को ही झुठलाते हैं ॥१५॥

न चैकचित्ततन्त्रं वस्तु तदप्रमाणकं तदा किं स्यात् ॥१६॥

सूत्रार्थ—(च) और (न) नहीं (एकचित्ततन्त्रं वस्तु) एक चित्त के अधीन वस्तु है (तत्—अप्रमाणकम्) वह अप्रामाणिक

हो जावे उसका प्रमाण न हो सके (तदा) तब (किं स्यात्) वह क्या है-कुछ नहीं है।

भाष्यानु०—(एकचित्ततन्त्रं चेद्वस्तु स्यात् तदा चित्ते व्यग्रे निरुद्धे वाऽस्वरूपमेव तेनापरामृष्टमन्यस्याविषयीभूतमप्रमाणक-मगृहीतस्वभावकं केनचित् तदानीं किं तत् स्यात्) एक चित्त के अधीन यदि वस्तु हो तो व्यग्र या निरुद्ध चित्त होने पर अस्वरूप ही हो जावे उस से सम्बन्ध न रखती हुई दूसरे की विषयीभूत न हुई वह वस्तु प्रमाणहीन एवं किसी से अगृहीत स्वभाव वाली— गुणधर्म ज्ञान से रहित हुई वह वस्तु उस समय क्या हो सके (सम्बध्यमानं च पुनश्चित्तेन कुत उत्पद्यते) और फिर चित्त से सम्बन्ध रखती हुई कहां से उत्पन्न हो सकती है (ये चाप्यनुपस्थिता भागास्ते चास्य न स्युरेवं नास्त पृष्ठमित्युदरमपि न गृह्येत) और जो भी अनुपस्थित भाग हैं वे उसके न बन सकें इसी प्रकार पृष्ठ नहीं है तो उदर भी न होसके (तस्मात् स्वतन्त्रोऽर्थः सर्वपुरुषसाधारणः स्वतन्त्राणि च चित्तानि प्रतिपुरुषं प्रवर्तन्ते) इस से स्वतन्त्र अर्थ है सब पुरुषों का सामान्य है और चित्त भी स्वतन्त्र प्रति-पुरुष प्रवृत्त होते हैं (तयोः सम्बन्धादुपलब्धिः पुरुषस्य भोग इति) सम्बन्ध से उन दोनों की उपलब्धि ही पुरुष का भोग है ॥१६॥

तदुपरागापेक्षित्वाच्चित्तस्य वस्तुज्ञाताज्ञातम् ॥१७॥

सूत्रार्थ—(चित्तस्य तदुपरागापेक्षित्वात्) चित्त का उस

वस्तु के साथ जो उपराग है उसे अपेक्षित करने से (वस्तु ज्ञात ज्ञातम्) वस्तु ज्ञात और अज्ञात होती है।

भाष्यानु०—(अयस्कान्तमणिकल्पा विषया अयःसधर्मकं चित्तमभिसम्बन्ध्योपरञ्जयन्ति) अयस्कान्तमणि के समान विषय हैं लोहे जैसे धर्म वाले चित्त को पाकर उपरञ्जित करते हैं (येन च विषयेणोपरक्तं चित्तं स विषयो ज्ञातस्ततोऽन्यः पुनरज्ञातः) जिस विषय से उपरक्त हुआ है चित्त वह विषय ज्ञात दूसरा अज्ञात होता है (वस्तुनो ज्ञाताज्ञातस्वरूपत्वात्परिणामि चित्तम्) वस्तु के ज्ञात अज्ञात स्वरूप से चित्त परिणामी है ॥१७॥

अव०—(यस्य तु तदेव चित्तं विषयस्तस्य—) जिस के मत में वही चित्त विषय है उस के—

सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात् ॥१८॥

सूत्रार्थ—(चित्तवृत्तयः सदा ज्ञाताः) चित्तवृत्तियां सदा ज्ञात हो जायें (तत्प्रभोः पुरुषस्य) उस चित्त के स्वामी पुरुष के (अपरिणामित्वात्) अपरिणामी होने से।

भाष्यानु०—(यदि चित्तवत्प्रभुरपि पुरुषः परिणमेत्ततस्तद्विषयाश्चित्तवृत्तयः शब्दादिविषयवज्ज्ञाताज्ञाताः स्युः) यदि चित्त के समान प्रभु पुरुष भी परिणाम को प्राप्त हो तो उस विषयवाली चित्तवृत्तियां शब्द आदि विषय की भांति ज्ञात और अज्ञात हो सकें (सदाज्ञातत्वं तु मनसस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वमनुमापयति) सदा ज्ञातता तो मन की उसके स्वामी पुरुष

के अपरिणामीपन का अनुमान कराती है ॥ १८ ॥

अव०—(स्यादाशङ्का चित्तमेव स्वाभासं विषयाभासं च भविष्यतीत्यग्निवत्—) आशंका हो सकती है पर चित्त ही अपने आभासवाला विषयाभास हो जावेगा अग्नि के समान।

न तत्स्वाभासं दृश्यत्वात् ॥ १९ ॥

सूत्रार्थ—(तत्) वह चित्त (स्वाभासं न) अपने आभासवाला नहीं है (दृश्यत्वात्) दृश्य होने से।

भष्यानु०—(अथेतराणीन्द्रियाणि शब्दादयश्च दृश्यत्वान्न स्वाभासानि तथा मनोऽपि प्रत्येतव्यम्) इन्द्रियाँ शब्द आदि विषय दृश्य होने से अपने आभासवाले नहीं हैं वैसे मन को भी समझना चाहिए वह भी अपने आभासवाला नहीं है (न चाग्निरत्र दृष्टान्तः) और यहां अग्नि दृष्टान्त ठीक नहीं है (न ह्यग्निरात्मस्वरूपमप्रकाशं प्रकाशयति) अग्नि अपने अप्रकाश स्वरूप को प्रकाशित करता है ऐसा नहीं (प्रकाशश्चायं प्रकाश्यप्रकाशकसंयोगे दृष्टः) और यह प्रकाश प्रकाश्यप्रकाशक के संयोग से ही दृष्ट होता है (न च स्वरूपमात्रेऽस्ति संयोगः) और स्वरूपमात्र में संयोग नहीं होता है (किंच स्वाभासं चित्त-मग्राह्यमेव कस्यचिदिति शब्दार्थः) तथा स्वाभासवाला—अपने आभासवाला चित्त है तब किसी से भी अग्राह्य है इसका यही अर्थ है (तद्यथा स्वात्मप्रतिष्ठमाकाशं न परप्रतिष्ठमित्यर्थः) जैसा कि आकाश अपने से प्रतिष्ठावाला है दूसरे के आश्रय वाला नहीं है (स्वबुद्धिप्रचारसंवेदनात्सत्त्वानां प्रवृत्तिर्दृश्यते—

क्रुद्धोऽहं भीतोऽहममुत्र मे रागोऽमुत्र मे क्रोध इति) प्राणियों के अपनी बुद्धि के व्यापारानुभव से प्रवृत्ति दिखाई देती है—मैं क्रुद्ध हूँ मैं डरा हुआ हूं उसमें मेरा राग है उसमें मेरा क्रोध है (एतत्स्वबुद्धेरग्रहणे न युक्तमिति) यह अपनी बुद्धि का ग्रहण न हो तो नहीं बन सकता है ॥ १९ ॥

एकसमये चोभयानवधारणम् ॥ २० ॥

सूत्रार्थ—(च) और (एकसमये) एक समय में (उभयानवधारणम्) दोनों का निश्चय ज्ञान नहीं हो सकता।

भाष्यानु०—(न चैकस्मिन् क्षणे स्वव्यापारावधारणं युक्तं, क्षणिकवादिनो यद् भवनं सैव क्रिया तदेव च कारकमित्यभ्युपगमः) और एक क्षण में अपने और पराए रूप का निश्चय होना नहीं बन पड़ता, क्षणिकवादी का जो होना 'भवन' है वही क्रिया है वही कारक है यह उसका मत है ॥ २० ॥

अव०—(स्यान्मतिः स्वरसनिरुद्धं चित्तं चित्तान्तरेणसमनन्तरेण गृह्यत इति–) यदि ऐसी मति–मान्यता हो कि चित्तअपने व्यापारसे निरुद्ध हुआ दूसरे समीपी चित्त से ग्रहण किया जावे तो–

चित्तान्तरदृश्ये बुद्धिबुद्धेरतिप्रसङ्गः स्मृतिसङ्करश्च ॥२१॥

सूत्रार्थ—(चित्तान्तरदृश्ये) चित्त दूसरे चित्त का दृश्य बन जावे तो (बुद्धिबुद्धेरतिप्रसङ्गः) बुद्धि की बुद्धि का अतिप्रसङ्ग आता है (स्मृतिसङ्करश्च) और स्मृति का संकर भी होजावे।

भाष्यानु०—(अथ चित्तं चित्तान्तरेण गृह्येत बुद्धिबुद्धिः केन गृह्यते, साऽप्यन्यया साऽप्यन्ययेत्यतिप्रसङ्गः) और चित्त

दूसरे चित्त से ग्रहण किया जावे तो बुद्धि की बुद्धि किस से ग्रहण की जावे, 'यदि कहा जावे कि' यह अन्य बुद्धि से ग्रहण की जावे पुनः वह भी अन्य बुद्धि से तो इस प्रकार अतिप्रसङ्ग, हुआ (स्मृतिसङ्करश्च) और स्मृति का सङ्कर—गड़बड़ भी होजावे (यावन्तोबुद्धिबुद्धीनामनुभवास्तावन्तः स्मृतयः प्राप्नुवन्ति) बुद्धि की बुद्धियों के जितने अनुभव होंगे उतनी ही स्मृतियाँ भी प्राप्त होती हैं (तत्सङ्कराच्चैकस्मृत्यनवधारणं च स्यादित्येवंबुद्धिप्रतिसंवेदिनं पुरुषमपलपद्भिर्वैनाशिकैः सर्वमेवाकुलीकृतम्) उनके सङ्कर से स्मृति का अनिश्चय हो, इस प्रकार बुद्धि के प्रतिसंवेदी पुरुष का अपलाप—खण्डन करने वाले वैनाशिकों ने सब घपला दिया (ते तु भोक्तृस्वरूपं यत्र क्वचन कल्पयन्तो न न्यायेन सङ्गच्छन्ते) वे तो भोक्ता 'चेतन आत्मा' के स्वरूप की जिस किसी में कल्पना करते हुए न्याय से संगति नहीं करते या न्याय से सङ्घर्ष नहीं करते (केचित्तु सत्त्वमात्रमपि परिकल्प्यास्ति स सत्त्वो य एतान् पञ्च स्कन्धान्निक्षिप्यान्यांश्च प्रतिसन्दधातीत्युक्त्वा तत एव पुनस्त्रस्यन्ति) कुछ तो जीव मात्र को भी परिकल्पित करके—है वह जीव जो इन पांच स्कन्धों को छोड़कर अन्य स्कन्धों को प्राप्त होता है ऐसा कहकर फिर उन्हीं से भय करते हैं (तथा स्कन्धानां महन्निर्वेदाय विरागायानुत्पादाय प्रशान्तये गुरोरन्तिके ब्रह्मचर्यं चरिष्यामीत्युक्त्वा सत्त्वस्य पुनः सत्त्वमेवापह्नुवते) तथा स्कन्धों के महान् निर्वेद—ग्लानिभाव के लिए

वैराग्य के लिए अनुत्पाद के लिए प्रशान्ति के लिए गुरु के समीप ब्रह्मचर्य सेवन करूंगा ऐसा कहकर सत्त्व–जीव के अस्तित्व को झुठलाते हैं (सांख्ययोगादयस्तु प्रवादाः स्वशब्देन पुरुषमेव स्वामिनं चित्तस्य भोक्तारमुपपादयन्तीति) सांख्य योग आदि प्रवाद तो अपने शब्द से चित्त के स्वामी पुरुष भोक्ता को स्वीकार करते हैं ॥२१॥

अव०—(कथम्) कैसे—

चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम् ॥२२॥

सूत्रार्थ—(अप्रतिसंक्रमायाः—चितेः) अविचल—स्वरूप में रहने वाली चितिशक्ति—चेतना—आत्मा के (तदाकारापत्तौ) चित्ताकार भासना में (स्वबुद्धिसंवेदनम्) स्वबुद्धि का संवेदन-अनुभव होता है।

भाष्यानु०—(अपरिणामिनी हि भोक्तृशक्तिरप्रतिसंक्रमा च परिणामिन्यर्थे प्रतिसङ्क्रान्तेव तद्वृत्तिमनुपतति) भोक्तृ शक्ति –आत्मा परिणामरहित अविचल है वह परिणामी चित्त में परिवर्तितजैसी उस चित्त की वृत्ति को अनुसरण करती है (तस्याश्च प्राप्तचैतन्योपग्रहस्वरूपाया बुद्धिवृत्तेरनुकारिमात्रतया बुद्धिवृत्त्यविशिष्टा हि ज्ञानवृत्तिराख्यायते) और चैतन्य—आत्म-तत्त्व के उपराग सहयोग से स्वरूप को प्राप्त होने वाली उस बुद्धिवृत्ति के अनुरूपमात्रता से बुद्धिवृत्ति से अभिन्न ज्ञानवृत्ति प्रसिद्ध होती है (तथा चोक्तम्—) ऐसा कहा भी है—

न पातालं न च विवरं गिरीणाम्।
नैवान्धकारं कुक्षयो नोदधीनाम्॥

गुहां यस्यां निहितं ब्रह्म शाश्वतम्।
बुद्धिवृत्तिमविशिष्टां कवयो वेदयन्ते ॥ इति

अर्थात् न पाताल को न पर्वतों के विवर—पोल को नहीं अन्धकार को और न समुद्रों की तलाटियों को 'अपेक्षित करते हैं' जिस अभिन्नबुद्धिवृत्ति रूप गुहा में ब्रह्म निहित—विराजमान है उसे ही कवि—क्रान्तदर्शी—दूरदर्शी ध्यानी जन अपेक्षित करते हैं—टटोलते हैं ॥२२॥

अव०—(अतश्चैतदभ्युपगम्यते—) इस लिये यह माना जाता है—

द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम् ॥२३॥

सूत्रार्थ—(द्रष्टृदृश्योपरक्तम्) द्रष्टा—आत्मा दृश्य—विषय इन दोनों से उपरक्त—उनके धर्मों से युक्त या उन से सम्बन्ध किया हुआ (चित्तं सर्वार्थम्) चित्त सर्वार्थ है।

भाष्यानु०—(मनो हि मन्तव्येनार्थेनोपरक्तं तत् स्वयं च विषयत्वाद्विषयिणा पुरुषेणाऽऽत्मीयया वृत्त्याऽभिसम्बद्धं तदेतच्चित्तमेव द्रष्टृदृश्योपरक्तं विषयविषयिनिर्भासं चेतनाचेतनस्वरूपापन्नं विषयात्मकमप्यविषयात्मकमिवाचेतनं चेतनमिव स्फटिकमणिकल्पं सर्वार्थमित्युच्यते) मन ही मनन करने योग्य विषय से युक्त होता है और स्वयं वह विषय होने से विषयी पुरुष के द्वारा भी निजी वृत्ति से सम्बन्ध को प्राप्त होता है ऐसा चित्त ही द्रष्टा-आत्मा और दृश्य-विषय से संयुक्त हुआ विषय-विषयी के आकार जैसा चेतन-अचेतन स्वरूप को प्राप्त हुआ, तथा विषय रूप

होता हुआ भी अविषयरूप जैसा अचेतन हुआ भी चेतन जैसा स्फटिक मणि के समान सर्वार्थ कहा जाता है 'जैसे स्फटिक मणि के समीप जो जो रंग आते हैं वह उन सब रंगों से अपने को रञ्जित कर लेती है वैसी दीखने लगती है।'

(तदनेन चित्तसारूप्येण भ्रान्ताः केचित्तदेव चेतनमित्याहुः) इस चित्त के सारूप्य धर्म से भ्रान्त हुए कुछ लोग वही चेतन है ऐसा कहते हैं (अपरे चित्तमात्रमेवेदं सर्वं, नास्ति खल्वयं गवादिर्घटादिश्च सकारणो लोक इति) अन्य कुछ जन यह कहते हैं कि चित्त मात्र ही यह सब है, गौ आदि घट आदि साधार पदार्थ नहीं है (अनुकम्पनीयास्ते) वे दया के योग्य हैं—भोले हैं अज्ञानी हैं (कस्मात्) कारण कि (अस्ति हि तेषां भ्रान्तिबीजं सर्वरूपाकारनिर्भास चित्तमिति) उनके सम्मुख भ्रान्ति का बीज सर्वरूपाकारप्रतीतिवाला चित्त है (समाधिप्रज्ञायां प्रज्ञेयोऽर्थः प्रतिबिम्बीभूतस्तस्याऽऽलम्बनीभूतत्वादन्यः) समाधि बुद्धि में जानने योग्य विषय प्रतिबिम्बीरूप—प्रकटीभूत हुआ है उसके आलम्बनरूप—आश्रयीभूत होने से अन्य पदार्थ भी है (स चेदर्थश्चित्तमात्रं स्यात्कथं प्रज्ञयैव प्रज्ञारूपमवधार्येत) यदि वह पदार्थ चित्तमात्र हो तो प्रज्ञा से ही प्रज्ञारूप निश्चय किया जावे—'प्रज्ञा जानने का साधन है पर वह अपने को जाने अन्य जानने योग्य कुछ न हो तब कैसे वह जानने का साधन ठहरे' (तस्मात् प्रतिबिम्बीभूतोऽर्थः प्रज्ञायां येनावधार्यते स पुरुष इति) इससे प्रतिबिम्बीभूत—प्रकटीभूत पदार्थ प्रज्ञा में जिसके द्वारा निश्चय किया जावे वह पुरुष है-चेतन है-आत्मा है

(एवं ग्रहीतृग्रहणग्राह्यस्वरूपचित्तभेदात् त्रयमप्येतज्जातितः प्रविभजन्ते ते सम्यग्दर्शिनस्तैरधिगतः पुरुषः) इस प्रकार ग्रहीता ग्रहण ग्राह्य स्वरूप चित्त के भेद से—चित्त कभी ग्रहीता के स्वरूप को लेता है कभी ग्रहण के कभी ग्राह्य के स्वरूप को धारण करता है इससे इन तीनों ग्रहीता, ग्रहण, ग्राह्य को जाति से यथार्थदर्शी विभक्त करते हैं—अलग अलग मानते हैं और उन्होंने पुरुष—आत्मा का ज्ञान किया गया है ॥ २३ ॥

अव०(कुतश्च—) और कैसे—

तदसंख्येयवासनाभिश्चित्रमपि परार्थं संहत्यकारित्वात् ॥२४॥

सूत्रार्थ—(तत्) वह चित्त (असंख्येयवासनाभिः) अगणित वासनाओं से (चित्रम्--अपि) चित्रीकृत भी (परार्थम्) दूसरे के लिए है—आत्मा के भोग और अपवर्ग साधने के लिये है (संहत्यकारित्वात्) मिलकर कार्य करने वाला होने से—दूसरे की सहायता से कार्य करने वाला होने से-परतन्त्र होने से।

भाष्यानु०—(तदेतच्चित्तमसंख्येयाभि र्वासनाभिरेव चित्रीकृतमपि परार्थं परस्य भोगापवर्गार्थं न स्वार्थं संहत्यकारित्वाद् गृहवत्) वह यह चित्त अगणित वासनाओं से चित्रीकृत भी परार्थ है पर अर्थात्–दूसरे के—आत्मा के भोग और अपवर्ग अर्थात् मोक्ष के लिए है अपने लिए नहीं है मिलकर कार्य करने वाला होने से--दूसरे से सहयोग पाकर कार्य करने वाला होने से—परतन्त्र होने से घर के समान–घर जैसे किसी घर वाले ... लिये नहीं (संहत्य-
रुष के साथ ही उपयुक्त होता है

कारिणा चित्तेन न स्वार्थेन भवितव्यं न सुखं [सुखचित्तं ?] सुखार्थं न ज्ञानं ज्ञानार्थमुभयमप्येतत्परार्थम्) मिलकर कार्य करने वाले—दूसरे के सहयोग से कार्य करने वाला चित्त स्वार्थ नहीं हो सकता सुख सुख के लिये नहीं ज्ञान ज्ञान के लिए नहीं होता दोनों ही परार्थ—दूसरे के लिये होते हैं (यश्च भोगेनापवर्गेण चार्थेनार्थवान् पुरुषः स एव परो न परः सामान्यमात्रम्) और जो भोग अपवर्ग रूप अर्थ से अर्थवान् पुरुष—आत्मा है वह ही पर है—भिन्न है—संहत्यकारी नहीं है स्वतन्त्र है केवल है वह सामान्य मात्र नहीं है (यत्तु किञ्चित्परं सामान्यमात्रं स्वरूपेणोदाहरेद् वैनाशिकस्तत्सर्वं संहत्यकारित्वात् परार्थमेव स्यात्) और वैनाशिक जिस किसी भी दूसरे स्वरूप से सामान्य मात्र का उदाहरण दे वह सब संहत्यकारी होने से परार्थ ही है (यस्त्वसौ परो विशेषः स न संहत्यकारी पुरुष इति) जो तो वह पर विशेष है केवल है वह पुरुष है संहत्यकारी नहीं है ॥ २४ ॥

विशेषदर्शिन आत्मभावभावनानिवृत्तिः ॥ २५ ॥

सूत्रार्थ—(विशेषदर्शिनः) विशेषदर्शी के—चित्तसे पृथक् केवल अपने आत्मतत्त्व को देखने वाले की (आत्मभावभावनानिवृत्तिः) चित्त एवम् दृश्य विषय में अपनेपन रूप भावनाओं वासनाओं की निवृत्ति हो जाती है।

भाष्यानु०—(यथा प्रावृषि तृणाङ्कुरस्योद्भेदेन तद्बीजसत्ताऽनुमीयते तथा मोक्षमार्गश्रवणेन यस्य रोमहर्षाश्रुपातौ दृश्येते

तत्राप्यस्ति विशेषदर्शनबीजमपवर्गभागीयं कर्मभिर्निर्वर्तित-मित्यनुमीयते) जैसे वर्षा ऋतु में तृणाङ्कर के उगने से उसके बीज का अनुमान किया जाता है वैसे मोक्ष मार्ग के श्रवण करने से जिस मनुष्य के रोमहर्ष और अश्रुपात होजावें—रोमाञ्च हो उठे और आंसू बहने लगें तो उसके अन्दर भी मोक्ष सम्बन्धी विशेष दर्शन का बीज कर्मों से साधित है यह अनुमान किया जा सकता है (तस्यात्मभावना स्वाभाविकी प्रवर्तते) उसकी आत्म-भाव भावना स्वाभाविक प्रवृत्त होती हैं (यस्याभावादिदमुक्त स्वभावं मुक्त्वा दोषाद्येषां पूर्वपक्षे रुचि र्भवत्यरुचिश्च निर्णये भवति) जिस बीज के अभाव से इस उक्त स्वभाव को छोड़ कर जिन लोगों की पूर्वपक्ष में दोष के कारण रुचि और निर्णय में अरुचि होती है (तत्रात्मभावभावना—कोऽहमासं कथमहमासं किंस्विदिदं के भविष्यामः कथं वा भविष्याम इति) उन में आत्मभावभावना यह है कि मैं कौन था मैं कैसा था यह क्या है यह कैसा है हम कौन होंगे और कैसे होंगे इत्यादि (सा तु विशेषदर्शिनो निवर्तते) वह तो विशेषदर्शी की निवृत्त हो जाती है (कुतः) कैसे ? (चित्तस्यैवैष विचित्रः परिणामः पुरुषस्त्वस-त्यामविद्यायां शुद्धश्चित्तधर्मैरपरामृष्ट इति) चित्त का ही यह विचित्र परिणाम है पुरुष तो अविद्या के न रहने पर शुद्ध चित्त-धर्मों से सम्बन्ध रहित है (ततोऽस्यात्मभावभावना कुशलस्य निवर्तत इति) तब इस कुशल पुरुष की आत्मभावभावना निवृत्त हो जाती है ॥२५॥

तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम् ॥२६॥

सूत्रार्थ—(तदा) उस समय (विवेकनिम्नम्) विवेक रूप निम्नस्थल वाला—विवेक में वर्तमान (कैवल्यप्राग्भारम्) कैवल्य की ओर बहने वाला (चित्तम्) चित्त होता है।

भाष्यानु०—(तदानीं यदस्य चित्तं विषयप्राग्भारमज्ञाननिम्नमासीत्तदस्यान्यथा भवति कैवल्यप्राग्भारं विवेकजज्ञाननिम्नमिति) उस समय जो इसका चित्त विषय की ओर बहने वाला अज्ञान-रूपनिम्नस्थल वाला था वह इस विशेपदर्शी का उससे अन्यथा हो जाता है केवल-मोक्ष की ओर बहने वाला विवेकोत्पन्न ज्ञान-रूप निम्नस्थलवाला हो जाता है ॥२६॥

तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः ॥२७॥

सूत्रार्थ—(तच्छिद्रेषु) विवेकज्ञान या समाधि के छिद्रों में-बीच बीच के अवसरों में (प्रत्ययान्तराणि) दूसरे प्रतिभान होते हैं (संस्कारेभ्यः) संस्कारों से।

भाष्यानु०—(प्रत्ययविवेकनिम्नस्य सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रप्रवाहिणश्चित्तस्य तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराण्यस्मीति वा ममेति वा जानामीति वा) प्रत्ययविवेकनिम्नस्थल वाले—सत्त्व और पुरुष के भेद दर्शन मात्र प्रवाह वाले चित्त के उन छिद्रों में दूसरे प्रत्यय—प्रतीतियाँ—मैं हूँ या मेरा या जानता हूँ इत्यादि हुआ करते हैं (कुतः क्षीयमाणबीजेभ्यः पूर्वसंस्कारेभ्य इति) कैसे ?, क्षीण होते हुए बीजवाले पूर्व संस्कारों से ॥२७॥

हानमेषां क्लेशवदुक्तम् ॥२८॥

सूत्रार्थ—(एषां हानम्) इन पूर्व संस्कारों का नाश (क्लेश-वत्-उक्तम्) अविद्या आदि क्लेशों के नाश के समान—क्लेशों का नाश जिन साधनों से किया जाना बतलाया गया है वैसा इन पूर्व संस्कारों का भी उन्हीं साधनों से नाश करना है यह कहा जानना चाहिए।

भाष्यानु०—(यथा क्लेशा दग्धबीजभावा न प्ररोहसमर्था भवन्ति तथा ज्ञानाग्निना दग्धबीजभावः पूर्वसंस्कारो न प्रत्ययप्रसूर्भवति) जैसा क्लेश जले बीजभाव वाले होकर उगने में समर्थ नहीं होते वैसा ज्ञान अग्नि से जले बीजभाव वाला पूर्व संस्कार प्रतीति ज्ञान को उत्पन्न करने वाला नहीं होता (ज्ञान-संस्कारास्तु चित्ताधिकारसमाप्तिमनुशेरत इति न चिन्त्यन्ते) ज्ञान संस्कार तो चित्त व्यवहार की समाप्ति के अनुरूप हो जाते हैं अतः उनकी चिन्ता करने—उन पर विचार करने की आवश्यकता नहीं है ॥२८॥

प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः ॥२९॥

सूत्रार्थ—(प्रसंख्याने-अपि) प्रसंख्यान—आत्मज्ञान हो जाने पर भी (अकुसीदस्य) वासनारहित के (सर्वथा विवेक-ख्याते) सर्वथा विवेक ज्ञान से (धर्ममेघः समाधिः) धर्ममेघ समाधि हो जाती है।

भाष्यानु०—(यदाऽयं ब्राह्मणः प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदः ततोऽपि

न किञ्चित्प्रार्थयते) जब यह ब्राह्मण—ब्रह्मज्ञानी अभ्यासी प्रसंख्यान—आत्मज्ञान हो जाने पर वासनारहित हो जाता है फिर वह कुछ भी इच्छा नहीं करता है (तत्रापि विरक्तस्य सर्वथा विवेकख्यातिरेव भवतीति संस्कारबीजक्षयान्नास्य प्रत्ययान्तराण्युत्पद्यन्ते) उस समय से भी विरक्त हुए की सर्वथा विवेकख्याति निरोध समाधि ही होती है संस्कारबीजों के क्षय हो जाने से फिर इस के दूसरे प्रत्यय—ज्ञान प्रतीतियां नहीं होती हैं (तदाऽस्य धर्ममेघो नाम समाधिर्भवति) तब इसकी धर्ममेघ नाम की समाधि होती है ॥२६॥

ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः ॥३०॥

सूत्रार्थ—(ततः) तब (क्लेशकर्मनिवृत्तिः) अविद्या आदि क्लेशों और कर्मों की निवृत्ति हो जाती है।

भाष्यानु०—(तल्लाभादविद्यादयः क्लेशाः समूलकाषंकषिता भवन्ति) उस धर्ममेघ समाधि के लाभ से अविद्या आदि क्लेश समूलनाश से नष्ट हो जाते हैं (क्लेशकर्मनिवृत्तौ जीवन्नेव विद्वान् विमुक्तो भवति) क्लेशों कर्मों की निवृत्ति हो जाने पर विद्वान् जीवित ही विमुक्त हो जाता है (कस्मात्—विपर्ययो भवस्य कारणम्) क्योंकि विपर्यय अर्थात् मिथ्याज्ञान संसार का कारण है (न हि क्षीणविपर्ययः कश्चित्केनचित् क्वचिज्जातो दृश्यत इति) क्षीणमिथ्याज्ञानवाला कोई किसी हेतु से कहीं उत्पन्न हुआ दिखलाई नहीं देता ॥३०॥

तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्याऽऽनन्त्याज्ज्ञेयमल्पम् ॥३१॥

सूत्रार्थ—(तदा) तब (सर्वावरणमलापेतस्य) सब आवरणरूप मलों से रहित—सब बाधकरूप मलों से विहीन (ज्ञानस्य-आनन्त्यात्) ज्ञान की अनन्तता से (ज्ञेयम्-अल्पम्) ज्ञेय—जानने योग्य विषय अल्प—तुच्छ हो जाता है।

भाष्यानु०—(सर्वैः क्लेशकर्मावरणैर्विमुक्तस्य ज्ञानस्यानन्त्यं भवति) सब क्लेशकर्मरूप आवरणों से विमुक्त ज्ञान की अनन्तता हो जाती है (आवरकेण तमसाऽभिभूतमावृतमनन्तं ज्ञानसत्त्वं क्वचिदेव रजसा प्रवर्तितमुद्घाटितं ग्रहणसमर्थं भवति) आवरक तम से आवृत—ढका हुआ ज्ञानसत्त्व किसी अवसर पर रज से प्रवर्तित उदय किया हुआ ग्रहण करने में समर्थ होता है (तत् यदा सर्वैरावरणमलैरपगतं भवति तदा भवत्यस्यानन्त्यम्) उस स्थिति में जब सब आवरणमलों से पृथक् ज्ञान हो जाता है तब उसकी अनन्तता होती है (ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पं सम्पद्यते) ज्ञान की अनन्तता से ज्ञेय—जानने योग्य वस्तु तुच्छ बन जाता है (यथाऽऽकाशे खद्योतः) जैसे आकाश में खद्योत—चमकने वाला कीट (यत्रेदमुक्तम्—) जिस के विषय में यह कहा है—

अन्धो मणिमाविध्यत्तमनङ्गुलिरावयत्।

अग्रीवस्तं प्रत्यमुञ्चत् तमजिह्वोऽभ्यपूजयत् ॥इति॥

अर्थात् अन्धे ने मणि को बंधा उसे अङ्गुलिरहित ने पिरोया उसे बिना गरदन वाले ने पहिना जिह्वाहीन ने उस की स्तुति की उक्ति लागू हो जावे ॥३१॥

ततः कृतार्थानां परिणामक्रमसमाप्तिर्गुणानाम् ॥३२॥

सूत्रार्थ—(ततः) फिर (कृतार्थानां गुणानाम्) चरितार्थ गुणों—समाप्तव्यवहारवाले गुणों के (परिणामक्रमसमाप्तिः) परिणामक्रम की समाप्ति हो जाती है।

भाष्यानु० (तस्य धर्ममेघस्योदयात् कृतार्थानां गुणानां परिणामक्रमः परिसमाप्यते) उस धर्ममेघ समाधि के उदय से चरितार्थ गुणों का परिणामक्रम समाप्त होजाता है (न हि कृतभोगापवर्गाः परिसमाप्तक्रमाः क्षणमप्यवस्थातुमुत्सहन्ते) भोगों का अन्त कर चुकने वाले समाप्तक्रमवाले गुण क्षणभर भी ठहरने में समर्थ नहीं होते हैं ॥३२॥

अव०—(अथ कोऽयं क्रमो नामेति—) अच्छा यह क्रम क्या है—

क्षणप्रतियोगी परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमः ॥३३॥

सूत्रार्थ—(क्षणप्रतियोगी) क्षण का प्रतियोग करने वाला-क्षण के पीछे रहने वाला (परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः) परिणाम के पिछले भाग से निश्चय होने वाला स्वरूप (क्रमः) क्रम है।

भाष्यानु०—(क्षणानन्तर्यात्मा परिणामस्यापरान्तेनावसानेन गृह्यते क्रमः) क्षण के अनन्तर होनेवाला परिणाम के पिछले भाग या समाप्ति में जो ग्रहण किया जावे--जाना जावे--लक्षित हो वह क्रम है (नह्यननुभूतक्रमक्षणा पुराणता वस्त्रस्यान्ते भवति) अन्त में-पश्चात् वस्त्र की पुराणता-पुरानापन परिणाम स्थिति विना क्षणों के क्रम को प्राप्त हुए

नहीं होती (नित्येषु च क्रमो दृष्टः) और क्रम नित्यवस्तुओं में देखा गया है (द्वयी चेयं नित्यता कूटस्थनित्यता परिणाम-नित्यता च) यह नित्यता दो प्रकार की है एक कूटस्थनित्यता-एकरसनित्यता-निर्विकारनित्यता और दूसरी परिणामनित्यता (तत्र कूटस्थनित्यता पुरुषस्य) उन में कूटस्थनित्यता--एकरस-नित्यता-अविकारनित्यता आत्मा की है (परिणामनित्यता गुणानाम्) परिणामनित्यता गुणों--सत्त्वरजतम गुणों की है (यस्मिन् परिणम्यमाने तत्त्वं न विहन्यते तन्नित्यम्) परिणाम को प्राप्त होती हुई जिस वस्तु में तत्त्व--उस का स्वरूप नष्ट न हो वह वस्तु नित्य है (उभयस्य च तत्त्वानभिघातान्नित्य-त्वम्) तत्त्व--निजस्वरूप के नाश न होने से दोनों की नित्यता है (तत्र गुणधर्मेषु बुद्ध्यादिषु परिमाणापरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमो लब्धपर्यवसानो नित्येषु धर्मिषु गुणेष्वलब्धपर्यवसानः) उन गुणात्मक--गुणधर्म वाले बुद्धि आदि में परिणाम के पिछले भाग से निश्चय करने योग्य क्रम प्राप्तान्तवाला--समाप्ति वाला और नित्य धर्मीरूप गुणों--सत्त्वरजतमगुणों में अप्राप्तान्त-वाला--असमाप्तिवाला क्रम होता है (कूटस्थनित्येषु स्वरूपमात्र-प्रतिष्ठेषु मुक्तपुरुषेषु स्वरूपास्तिता क्रमेणैवानुभूयत इति तत्राप्यलब्धपर्यवसानः शब्दपृष्ठेनास्तिक्रियामुपादाय कल्पित इति) कूटस्थनित्य एकरसनित्य अविकारनित्य स्वरूपमात्र-प्रतिष्ठा वाले मुक्तपुरुषों में स्वरूप का अस्तित्व क्रम से ही अनुभूत होता है वहां अप्राप्तान्तवाला असमाप्तिवाला क्रम शब्दपृष्ठ शाब्दिक--कथनमात्र ही 'अस्ति' क्रिया को लेकर कल्पित किया गया है।

(अथास्य संसारस्य स्थित्या गत्या च गुणेषु वर्त्तमानस्यास्ति क्रमसमाप्ति र्न वेति) अच्छा स्थिति और गति से वर्तमान इस संसार की क्रमसमाप्ति है या नहीं ? (अवचनीयमेतत्) यह अवचनीय है—अकथनीय है (कथम्) कैसे ? (अस्ति प्रश्न एकान्तवचनीयः सर्वो जातो मरिष्यतीति) प्रश्न एकांश से कथनीय है—उत्तर देने योग्य कि सब उत्पन्नमात्र मरेगा नष्ट होगा (ओं भो इति) हां ठीक है (अथ सर्वो मृत्वा जनिष्यत इति) और सब मरकर उत्पन्न होगा (विभज्य वचनीयम्) खोलकर कहना चाहिये ? 'उत्तर में' (प्रत्युदितख्यातिः क्षीण-तृष्णः कुशलो न जनिष्यत इतरस्तु जनिष्यते) प्रकट हुई विवेक-ख्याति वाला वासनारहित कुशल जन उत्पन्न न होगा अन्य तो उत्पन्न होगा (तथा मनुष्यजातिः श्रेयसी न वा श्रेयसी-त्येवं परिपृष्टे विभज्य वचनीयः प्रश्नः पशूनधिकृत्य श्रेयसी देवानृषींश्चाधिकृत्य नेति) इसी प्रकार यह एक और प्रश्न है कि मनुष्य जाति श्रेष्ठ है या नहीं ? इस रूप में तो प्रश्न अनिर्वचनीय रहेगा परन्तु विभक्त करके प्रश्न वचनीय–उत्तर देने योग्य हो जाता है कि पशुओं को लक्षित या अपेक्षित करके तो मनुष्य जाति श्रेष्ठ है देवों और ऋषियों को लक्षित या अपेक्षित करके मनुष्य जाति श्रेष्ठ नहीं है (अयं त्ववचनीयः प्रश्नः संसारोऽयमन्तवानथानन्त इति) यह तो अकथनीय प्रश्न है कि यह संसार अन्तवान्—अन्तवाला है या अन्तरहित है (कुशलस्यास्ति संसारक्रमसमाप्ति र्नेतरस्येति, अन्यतरावधारणे दोषः) कुशल की संसारक्रम समाप्ति है अन्य की नहीं, किसी एक के स्वीकार में—सर्वथा अन्तवाला ही है या सर्वथा अन्तरहित ही है इसमें दोष है (तस्माद् व्याकरणीय एवायं प्रश्न इति) इस से यह प्रश्न खोलकर करने योग्य ही है या स्पष्ट करने योग्य ही है ॥३३॥

अव०—(गुणाधिकारक्रमसमाप्तौ कैवल्यमुक्तं तत्स्वरूपमवधार्यते—) गुणों के अधिकारक्रम की समाप्ति पर कैवल्य मोक्ष कहा है उसका स्वरूप निर्णय किया जाता है—

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति ॥३४॥

सूत्रार्थ—(पुरुषार्थशून्यानां गुणानाम्) पुरुषार्थ—पुरुष के लिये स्वप्रवृत्ति से शून्य हुए गुणों का (प्रतिप्रसवः कैवल्यम्) कारण में लीन हो जाना कैवल्य है (वा) या (चितिशक्तिः स्वरूपप्रतिष्ठा—इति) चितिशक्ति—आत्मा का अपने रूप में प्रतिष्ठित हो जाना कैवल्य है।

भाष्यानु०—(कृतभोगापवर्गाणां पुरुषार्थशून्यानां यः प्रतिप्रसवः कार्यकारणात्मकानां गुणानां तत् कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा पुनर्बुद्धिसत्त्वानभिसम्बन्धात्पुरुषस्य चितिशक्तिरेव केवला तस्याः सदा तथैवावस्थानं कैवल्यमिति) भोगों का सर्वथा अन्त कर चुके हुये पुरुषार्थशून्य हुये कार्य कारण रूप गुणों का जो कारण में लीन हो जाना है वह कैवल्य है अथवा वुद्धिसत्त्व के सम्बन्ध से अलग हो पुरुष—आत्मा का अपने रूप में प्रतिष्ठित हो जाना कैवल्य है क्योंकि चिति शक्ति ही केवल है उसका सदा वैसे ही बने रहना कैवल्य है ॥३४॥

इति

चतुर्थः पादः

समाप्तं योगदर्शनम्

स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक

६-१-१६४८ ई०

आर्षयोगप्रदीपिका

सूत्रों की
वर्णानुक्रमसूची